

अहम् ।

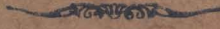
त्रिस्तुतिक-मत-मीमांसा ।

[प्रथम-भाग]



लेखक-

मुनि कल्याणविजय ।



प्रकाशक-

एल्. ए. पोरवाल.

मु. गुडाबालोतरा

(मारवाड़.)

अहम् ।

त्रिस्तुतिक-मत-मीमांसा ।

[प्रथम-भाग]

लेखक-

मुनि कल्याणविजय ।

प्रकाशक-

शा. लक्ष्मीचन्द्र अमीचन्द्र-पोरवाल.

मु. गुडाबालोतरा.

(मारवाड़.)

इस को

एम्. एम. गुप्त ने आर्यसुधारक प्रेस-बड़ौदे में
प्रकाशक के लिए छापा । ता. १-६-१९१७

प्रथमावृत्ति, कॉपी ५००

वीर संवत् २४४३

विक्रम सं. १९७४]

[सन् १९१७

पता:—

यह पुस्तक नीचे लिखे दो पतों पर प्रकाशक
की तर्फ से भेंट मिलेगी.

१

एल्. ए. पोरवाल एण्ड कंपनी
चीक पेठ, बेंगलोर-सिटी.

२

श्रीकेशरविजय जैन लायब्रेरी,
जालोर (मारवाड़).

❁ प्रस्तावना. ❁

जिस वक्त चारों ओर से संप के उपदेश का ध्वनि सुनाई दे रहा हो, सुधारक समाज के पुकार लोगों के कान बहिरे कर रहे हों, और सामाजिक पत्र अपने समाज नायकों को टटोल टटोल के सावधान कर रहे हों, उस सुधारे के समय में खंडन-मंडन की पुस्तकों का प्रसिद्ध होना लोगों की अरुचि का कारण होवे; यह एक साधारण बात है ।

दूसरे ही क्यों, मैं खुद भी इस बात को पसंद नहीं करता कि लोगों को विक्षोभ पहुंचाने वाले लेख या पुस्तकों का प्रचार हो ।

इस हालत में पाठक महाशय यह प्रश्न अवश्य करेंगे कि जब तुम्हारी भी यही मान्यता है तो फिर इस चर्चावाली पुस्तक को प्रकाशित करने की क्या जरूरत थी ? ।

मेरे प्रियपाठकों के इस प्रश्न को मैं मान के साथ स्वीकार कर के उत्तर दूंगा कि आप का कहना वाजबी है, पर—

“ प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते । ”

—यह वृद्ध पुरुषों की कहावत तो आपने भी सुनी ही होगी कि विना प्रयोजन तो मंद पुरुष भी प्रवृत्ति नहीं करता ।

मेरी यह प्रवृत्ति-चर्चात्मक पुस्तक को प्रकाश में लाने की उत्सुकता-किन कारणों से हुई यह बात मुझे इस जगह पर अवश्य ही कहनी पड़ेगी, और आप की शंका का समाधान करना पड़ेगा ।

पाठकमहाशयों को यह हकीकत विदित होगी कि ता. १६-१२ सन् १९१४ के “ जैनशासन ” पत्र में ‘ जैनभिक्षु ’ नाम के किसी महाशय ने कोरटातीर्थ के बारे में एक लेख दिया था जिस में त्रिस्तुतिक मत के प्रवर्तक श्रीराजेन्द्रमूरिजी के अनुचित कार्यों का भी दिग्दर्शन कराया था ।

पूर्वोक्त लेख को छपे करीब ८ आठ महीने बीत गये तब तक तो इस विषय के कुछ भी विश्वस्त समाचार नहीं मिले कि तीन थुईं वाले इस के लिये क्या उपाय ले रहे हैं ।

बाद में तारीख ५-९-१९१५ के रोज की डाक में बुकपोस्ट से ‘ तीर्थकोटराजी के अनुचित लेख का समुचित उत्तर दान पत्र ’ इस नाम की दो पुस्तकें मुझे एका एक मिलीं ।

पुस्तक देखने से मालूम हुआ कि पूर्वोक्त-कोरटातीर्थ विषयक जैनभिक्षु के लेख का खंडन ही इस पुस्तक का खास साध्य-बिंदु है, क्यों कि उक्त पुस्तक का लंबा चौड़ा नाम ही इस बात को कह रहा है ।

पुस्तक पढ़ने से बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि लेखकों ने प्रथम से ही भूलचकर में पड़ के उलटे रास्ते गमन करना शुरु किया है ।

जैनभिक्षु कौन व्यक्ति है इस बात का तो लेखकों ने बिल्कुल ही पता नहीं लगाया, और मुझी को कोरटा लेख का लेखक ‘ जैनभिक्षु ’ मान के सारी पुस्तक मुझ ही पर झूठे आक्षेप कर के भर दी ।

लेखकों की इस मुग्धता पर मुझे बड़ा ही आश्चर्य और हास्य प्राप्त हुआ । साथ में यह भी विचार उत्पन्न हुआ कि यद्यपि

राजेन्द्रसूरिजी के परिवार वालों से आज तक मैंने लेखों द्वारा चर्चा नहीं की, और न उन की गंभीर भूलों और अनुचित कार्यों का प्रकाश किया, तथापि वे लोग मेरे ऊपर विना ही कारण इस प्रकार क्रूरता जाहिर करते हैं, तो अब मुझे भी इन की तर्फ नज़र करनी ही चाहिये ।

यद्यपि मेरे इस विचार को कई विद्वान् लोगों की तर्फ से अनुमोदन मिल गया था, तथापि मैंने सोचा कि शायद लेखकों की वेदरकारी से ही यह भूल हो गई हो, और अब भी वे इसे सुधार लें तो उन्हें प्रथम सूचना कर देनी चाहिये, क्यों कि इतने से ही अगर इस चर्चा का अंत आ जाय तो अच्छी बात है।

पाठकमहाशय समझ सकते हैं कि यह मेरा विचार सिर्फ विरोध को दवाने के लिये था न कि दूसरे किसी मतलब के लिए ।

जब उपर्युक्त मेरा विचार सब को विशेष सूचित हो गया तो मैंने उक्त पुस्तक के लेखक मुनिश्री हर्षविजयजी और तीर्थ-विजयजी को नीचे मुजिब नोटीस दी,—

जालोर.

ता. ८-९-१९१५.

मुनिश्री हर्षविजयजी तथा तीर्थविजयजी.

बसुकाम-कानदर.

इस नोटीस से मालूम हो कि ' तीर्थ कोरटाजी के अनुचित लेख का—समुचित उत्तर दान पत्र ' नामक आप की बनाई हुई किताब मेरे देखने में आई है जिस की भाषा सर्वथा असभ्यता पूर्ण है, उस के अंदर ' जैनभिक्षु ' नामक लेखक के लेख का उत्तर देने की चेष्टा की गई है । अस्तु ।

अफसोस का विषय तो यह है कि 'जैनभिक्षु' असली व्यक्ति कौन है इसका तो आपने निर्णय किया ही नहीं और झूठी भ्रमणा में पड़ के मुझ ही को कोरटा के लेख का लेखक 'जैनभिक्षु' मान लिया और मेरे पर ही पूर्वोक्त पुस्तक में असभ्यता व गालियों की वृष्टि कर दी ।

मैं बेधड़क कहता हूँ कि 'जैनभिक्षु' नामा लेखक मैं नहीं हूँ; तथापि यदि आपने अपनी अज्ञता से गेर कायदे से मेरे पर झूठे आक्षेप किये हैं उन का मैं बदला लेना चाहता हूँ और अवश्य ही लूंगा ।

इस लिये तुम्हें इस नोटिस से वाकिफ करता हूँ कि इस असत्य भ्रम से लिखी हुई पुस्तक का जल्दी योग्य सुधार कर लें और मुझे इत्तला दें, वरना मैं इस किताब की योग्यतानुसार उत्तर लिखने की कौशिश करूंगा ।

महाशयो ! 'जैनभिक्षु' ने राजेन्द्रसूरिजी के जो अनुचित कार्य लिखे हैं वे तो किस गिनती में हैं, मैं तो उनको पाव आनी-भर भी नहीं मानता, उन के संपूर्ण अनुचित कार्यों का खजाना तो मेरे पास है, आज तक मैं इन को प्रगट करने से परहेज करता था, इस विचार से कि किसी के भी दुर्गुण प्रकट कर उसकी हतक करने से क्या फायदा, परंतु अब पूर्वोक्त मेरा विचार स्थिर नहीं रह सकेगा ।

बस आप की तर्फ से जो खुलासा हो जल्द पेश करें, फिर ऐसा न कहें कि हमें पहले इत्तला नहीं दी । फक्त ।

लि.

मुनि कल्याणविजय.

इस मेरी नोटीस का जवाब मुझे ता. २७-९-१९१५ को मिला जो बड़ा ही विचित्र और आश्चर्यकारी है। उस को यहां पर अक्षरशः लिख देता हूं। पाठक महोदय देखें कि लेखकों ने अपने अव्यवस्थित चित्त का कैसा दर्शन कराया है।

॥ श्रीः ॥

काणदर.

ता. २०-९-१९१५.

मुनिश्रीकल्याणविजयजी जालोर आपकी नोटीस आई वांच कर मालूम हुवा कि आप का अफसोस विषय साफ झूठा ही है कि जो असली “ जैनभिक्षु ” व्यक्ति का हम कों निर्णय हो जाता तब तो उसी के प्रकट नाम से ही हम समुचित उत्तर दानपत्र प्रकाश करते परन्तु निर्णय का व्यवहार करने से भी व्यक्ति का नाम प्रकट न होने से अज्ञानांध गुरु और अज्ञानांध श्रद्धावान् जैनभिक्षु का नाम से ही पत्र प्रसिद्ध किया गया है तो आप झूठी भ्रमणा में पड के ऐसा क्यों लिखते हो कि मुझ ही को कोरटा के लेखका लेख क “ जैनभिक्षु मान लिया और मेरे पर ही पूर्वोक्त पुस्तक में असभ्यता व गालियों की वृष्टि कर दी ” वाह जी वाह हमने जो आप कों कोरटा के लेखका लेखक निःसंदेहमान लिया होता तो आप का नाम लिखते हम को क्या शर्म आती थी आपका नाम हम कुछ नहीं जानते थे जो आपका नाम के स्थान में जहां तहां “ जैनभिक्षुजी ” ही धारण किया और जो जैनभिक्षुजी कल्याणविजयजी ऐसा पूर्वोक्त पुस्तक में लिखा होता तब तो असभ्यता व गालियों की वृष्टि कर दी यह लेख आप का सत्य होता नहीं तो हृदय में होय सो होंठमें आवे

इस लोकोक्ति न्याय से आप का भ्रम आप को ही खाता है हमने तो जैनभिक्षुजी को भी जैसा उसने असभ्यताका लेख लिखा है तैसा ही उसी को वैसा ही तौरसे जवाब लिखा है परन्तु कुछ गालि प्रदानादि नहीं दिया है तो आप कों तो आप का लिखना ही असत्य ठहराता है कि “मैं बेधडक कहता हूँ कि जैनभिक्षुनामा लेखक मैं नहीं हूँ” जो आप जैनभिक्षु नामा लेखक नहीं हो तो लेखक चिमनलाल तखतगढ वाला का नाम से महाशय ताराचंदजी का लेखपे अंधश्रद्धा का नमूना लेख क्या विष्णु, इसलामी ईशार्द, भिक्षुने छपवाया है इस उक्त लेख का आशय आप ही पुकार रहा है कि लेखक चिमनलाल का तो नाम है और लिखने छपवाने वाले तो आप ही जैनभिक्षु हो तैसे ही कोरटातीर्थ का असभ्य लेख भी आप छपवाने वाले कदाचित् नहीं होंगे तो भी आपकी सामिलात विना लिखने छपवाने का असंभावित है क्यों कि श्री जालोर का किल्ला का मंदिर की तथा कांकरिया वासका मंदिर की झूठी अशुद्धियां और प्राचीन आचार्यों का जीर्ण लेख मुसलमान शिलावट के पास गिसवा डालना इत्यादि लेख लिखने छपवाने वाला दूसरा कोई भी दिखता नहीं आप ही जैनभिक्षु हो तथापि आप अपनी अज्ञतासे प्रथम ही गेरकायदा करके अब बेकायदासे नोटीस देते हो यह ही आप की अज्ञताकी पूर्ण निशानी है आप के ऊपर हमने झूठे आक्षेप नहीं किये है हमने तो अंधगुरु अंधश्रद्धावाले जैनभिक्षु पर सच्चे आक्षेप किये हैं आप उनका बदला लेना चाहते होतो अवश्य ही ले लेना उस किताब की योग्यतानुसार उत्तर लिखने की कोशीस करना परन्तु याद रखना कि प्रथम जैनभिक्षु के बारेमें जैसे झूठ के ऊंट दोड़ाये है तैसे तोद्वाके जैनधर्मकी और आपकी निंदा कराने की कोशीस

नहीं करना आप की नोटीस ही आप को असभ्य जैनभिक्षु सिद्ध करती है कि आप लिखते हो “ जैनभिक्षुने राजेन्द्रसूरिजी के जो अनुचित कार्य लिखे हैं वे तो किस गिनती में हैं मैं तो उन को पाव आनी भर भी नहीं मानता, उन के संपूर्ण अनुचित कार्यों का खजाना तो मेरे पास है जो खुद राजेन्द्रसूरिजी के हस्ताक्षरों से सिद्ध होता है ” जैनभिक्षुजी आप पाव आनी भर तो लिख चुके हो अब आप के गिनती आवे जैसा संपूर्ण खजाना खोलियें राजेन्द्रसूरिजी के हस्ताक्षरों में कुछ लिखने पढ़ने में छद्मस्थपणा का योग से वा वार्तालाप में भूल आवे वह कुछ अनुचित कार्य नहीं कहा जाता है याने भूल कही जाती है अनुचित कार्य तो चोरी जारी का है सो आप साबूती के साथ प्रकट करियें इस लिये हम प्रतिनोटीस देते हैं कि बस आप की तरफ से साबूती के साथ जो खुलासा हो सो जल्दी पेश करें जो उसकी जल्दी खबर ली जावे इति शुभम् ॥

लि.

मयाराम डूंगरदास.

पाठकवर्ग ! देखिये एक नोटीस के जवाब में लेखकोंने कितने रंग धारण किये हैं । इस लेखके अक्षर तो आहोर के श्रीमाली ब्राह्मण पूनमचंद के हैं, आखिर में ‘ लि. मयाराम डूंगरदास ’ इस प्रकार का नाम किसी दूसरे का ही, और भेजने वाला कोई ओर ही, जिन के नाम से मैंने नोटीस दी थी उन का इस में नाम ही नहीं !, क्या यह सब लेखकों की जालसाजी नहीं है ? ।

इस उटपटांग और उद्धताई से भरे हुए जवाब को पढ़ के मुझे तो क्या सब किसी को कहना पड़ेगा कि अब तो इस पुस्तक

के विषय में योग्य उपाय लेना ही चाहिये ।

बस मुझे निरुपाय हो कर यह विचार निश्चित करना पड़ा कि अब तो इस पुस्तक का योग्य उत्तर देना ही न्याय की बात है ।

उक्त विचारानुसार मैंने जालोर में ही उस पुस्तक के उत्तर में इस “ त्रिस्तुतिक-मत-मीमांसा ” पुस्तक को लिखना शुरू किया, और करीब डेढ़ महीने के अंदर लगभग पूरा कर दिया ।

बाद संवत् १९७२ के माघ कृष्ण त्रयोदशी के दिन हम जालोर से विहार कर के तीसरे दिन-यानी अमावास्या के दिन गांव बाघरे पहुंचे, उस वक्त प्रतिष्ठा का मौका होने से धनविजयजी, मोहनविजयजी, हर्ष-तीर्थ विजयजी विगैरह बहुत से तीन थुई के साधु वहां पर आये हुए थे, हम उन के पास जाकर मिले, और कुछ समय तक मामूली बातें चीतें कीं, बाद तीर्थविजयजी एकाएक बोल उठे कि ‘ झगडा नहीं करना चाहिये ’ मैंने कहा-अच्छी बात है, झगडा कभी नहीं करना चाहिये, पर सिर्फ यह कहने से ही फायदा नहीं होता कि-‘ झगडा नहीं करना चाहिये,’ इस पर अमल भी होना चाहिये, वस्तुतः मुख से कोई भी बात कहनी कठिन नहीं है, पर उस मुजब वर्तन रखना बड़ा कठिन है ।

तीर्थविजयजी-हमने तो बहुत दिन तक इस मुजब वर्तन किया पर क्या करें ? लोग जब हमारे पीछे ही पड़ गये तब तो हम भी कितना सहन करें ? चंदन स्वभाव से शीतल है पर पत्थर के साथ घिसाने से उस में भी अग्नि पैदा हो जाता है ।

मैं—

यह बात नहीं है—मैं यह नहीं कहता कि लोग तुम्हारे विषय में चाहे ज्यों लिखा करें और तुम

सुना करो, बेशक उत्तर तो देना ही चाहिये, पर इस बात की भी खोज होनी चाहिये कि हमारे विषय में लिखने वाला कौन है और हम किस के ऊपर लिख रहे हैं ! ।

तीर्थवि०— हमने तो बहुत ही खोज की, लेकिन लिखने वाले का नाम किसीने नहीं बताया, इसी लिये गुप्त नाम से ही उत्तरदान पत्र लिखा है, उस में तुम्हारा नाम कहीं भी नहीं है ।

मैं— नाम से क्या करना है ? जब सारी पुस्तक ही हमारी निंदा से भर दी है तब नाम लिखने में क्या कसर रही ? ।

तीर्थवि०— (हंस कर) ऐसा ही है तो जैसे हमने कई दफे सहन किया वैसे तुम भी एक बार सहन कर लेते ! ।

मैं— मुझे इस वक्त चार गालियां देदो ! मैं सहन कर लूंगा, पर विना ही कारण हमारे पूज्य पुरुषों की कोई निंदा करे और हम सुन के मुख बंद कर पड़े रहें—यह बात हम से नहीं होती, और न होगी ।

तीर्थवि०— यदि तुम से यह बात नहीं होती तो दूसरों ने क्या चूड़ियां पहिन ली हैं ? ।

मैं— यदि पहिन ली होंगी तो भी इस में तो कुछ भी अड़चण नहीं है, क्यों कि आजकल तो चूड़ियां वाली भी पगड़ी वालों का सामना करने लगी हैं ।

तीर्थवि०— (कुछ ठहर के) नहीं, ऐसा नहीं करना चाहिये, हम और तुम कौनसे जुदे हैं, राजेन्द्रमूरिजी के शिष्य कीर्तिचन्द्रजी, और उन के प्रशिष्य तुम, अगर सोचा जाय तो हम तुम सब एक ही हैं ।
 मैं— यदि यह कथन हृदय का होता तो इस तकरार का वक्त ही नहीं आता ! ।

इतनी बातचीत होने के बाद मैं अपने स्थान पर आया ।

बाद इस के धनविजयजी के भक्त 'लल्लु वलयम' अहमदाबाद वाले और श्रावक वर्जींगजी वाघरावाले ने हमारे पास आकर बहुत कहा कि अब आप जाने दीजिये, क्यों कि इस में कुछ भी सार नहीं है, आप उन की बुरियां लिखेंगे, और वे आप की, इस का नतीजा अच्छा नहीं आवेगा । मैंने कहा—तुम मुझी को कहते हो या उन को भी ? । वर्जींगजी बोले—उन को क्या कहना है ? अगर आप अब कुछ भी न छपावेंगे तो झगडा भिट ही गया ! । मैंने कहा—अच्छा, तुम उन से यह लिखा दो—कि " समुचित उत्तर दानपत्र में जो झूठे आक्षेप तुम्हारे ऊपर किये हैं वे गलत हैं, "—फिर मैं नहीं छपाऊंगा ।

वर्जींगजी बोले—यह तो कैसे हो सके, क्यों कि ऐसा तो वे कभी नहीं लिखेंगे ।

मैंने कहा—अगर वे न लिखें तो हम को क्या गरज है जो उचित बात को छोड के सत्य का गला घोटें ! ।

पाठकमहोदय देखी इन की काररवाई ? ये तो गिरकर के भी अपनी टंगडी तो उंची ही रखना चाहते हैं और दूसरों को कहते हैं कि ' झगडा मत करो ! ' क्या इस से आप यह कह

सकते हैं कि ये लोग शान्ति को चाहने वाले हैं ? यह तो इस वाली बात हुई कि ' चोर कोटवाल को डांटे । '

इन की इस काररवाई को देख के मैंने यही निश्चय कर लिया कि ये लोग सुलह को चाहते ही नहीं हैं । खैर । इन की मर्जी ! ।

शायद यहां पर मुझे कोई प्रश्न करेगा कि उन्होंने न माना तो तुम्ही सबर कर लेते ! क्यों कि सहन करे सो ही बडा, तो मुझे कहना पडेगा कि यह आपका उपदेश इस विषय में उचित नहीं जान पडता, भला यह भी कभी हो सकता है कि गुरु और धर्म जैसे सर्वोत्तम तत्त्व पर होते हुए झूठे आक्षेपों को सुन के भी कोई उपेक्षा कर के पडा रहे ?, मेरी समझ में तो ऐसा करना मानों सत्य के गले छूरी चलाना है ।

हां, यह बात सही है कि लेखक को असत्य से हमेशा दूर रहना चाहिये, यहां तक कि बन सके वहां तक अपना लेख प्रमाण के साथ ही लिखना चाहिये । सिर्फ बितंडावाद करके अपनी ठाँग ऊपर रखने की कोशिश करना मानो अपने मुखसे अपना पराजय कबूल करना है ।

मैंने इस मीमांसा में अपने इस उपदेश पर कहां तक पाबंदी रखी है इस का निर्णय पाठक महाशय खुद कर लेंगे, क्यों कि मेरा इस विषय में अधिक लिखना आत्मश्वाघा का कारण हो जाता है । तथापि इतनी सूचना करूंगा तो कुछ भी अनुचित नहीं होगा कि जहां तक बन पडा है मैंने इस लेख को प्रमाण पूर्वक ही लिखा है ।

कीर्तिचंद्रजी की दीक्षा की हकीकत, रत्नविजयजी श्रीपूज्य

(राजेन्द्रमूरि) जी बने इसका वृत्तान्त और ब्राह्मणों के द्वारा ग्रन्थ बनवाना इत्यादि जो जो ऐतिहासिक बातें लिखी हैं वे भी कल्पित या सुनी सुनाई नहीं, किंतु खुद राजेन्द्रमूरिजी के हाथों से लिखे हुए पत्र पुस्तक तथा उन के साधुओं के और श्रावकों के लिखे हुए खत पत्र और डायरी आदि के आधार से लिखी हैं । जो कि विस्तार के भय से उन सब प्रमाणों को इस पुस्तक में ज्यों के त्यों नहीं लिखा, तथापि जो हकीकत लिखी है वह सब उन्हीं के अनुसार है, बलके उन से कम है पर ज्यादा नहीं ।

जिन प्रमाणों के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई है उन में का सिर्फ एक पत्र यहां नमूने के तौर पर उद्धृत कर देता हूं जो राजेन्द्रमूरिजी की आज्ञासे उन के भीनमाल के श्रावकों ने रतलाम के श्रावकों को लिखा था । पाठकमहाशय देखेंगे कि मैंने जो कुछ लिखा है वह असत्य नहीं है ।

॥ श्री ॥

“ सिद्ध श्री नमी शंतिने लिखुं पत्र सुविचार ।

मंगलमालवमंडले संघसकलसिरदार ॥ १ ॥

रत्नपुरि नगरे सिरे स्वामिवंधव हेत ।

धर्मरागसुं नगरनो गुणगण गणीने लेत ॥ २ ॥

लज्जादिक गुणगणनिधी साधमीं सिरदार ।

गुण इकवीसे गाजता इट्टिवंत दातार ॥ ३ ॥

सामायक पोसा प्रमुख पूजा द्विविध प्रकार ।

तप जप मे नित प्रत वसे समकित सहसंभार ॥ ४ ॥

इत्यादिक गुण दीपता केता करुं वखाण ।

समकितना गुणगणतणो पार न लेह सुजाण ॥ ५ ॥

समस्तगुण जोग्य सेठ पोरवाड जसुजी चतुरभुजजी और समसत समाकिति श्रावकां जोग्य श्रीभीनमालसुं समस्तसंग साधर्मो लिखावतां परणाम पंचावसी इहां श्रीगुरुदेवप्रतापथी सुखसाता वर्ते छे आप का सुखसाता का पत्र आयो श्रीजालोरने धनराजजी मुता उपरे सो हमारे यहां भेज्यो वंची बडा खुसी हुवा आप सरिखा श्रावक धन्य हे सो मुनीराजरी खबर लेता रहे मेतो अजाणछां मारे तो यहां पहली इस्या मारगने समझताइ नहीं पिण श्रीजीरा शिष्य कीर्तिचंद्रजी माने धर्म मारग वतायो जद मालुम पडी हमे मारा भाग्यरा उदेसुं श्रीपूज्य आचार्य महाराज श्री १००८ श्रीराजेन्द्रसूरीसरजी पिण चोमासे अठे विराजे हे ठाणु ८ सुं ओर साधवीयांजी ठाणु तीन सुं विराजे हे सो घणा भवी प्राणी समकित पाम्या हे घणा पामसी खेत्र सुद्ध होसी महालाभ ले रखा हे भाइजी इस्या आचार्य महाराज विना धर्म कुण वतावे आपरा गुण सुणने माने पिण द्रढता होवे हे ओर अठे श्रीदसविकालिकजी टीका सहीत तो वच्यो ने हमे उपासक दसागजी वचे हे उपर प्रतिक्रमण सूत्र टीका वंचीजे हे श्रावक श्रावकण्यां तिथीये तीन से च्यार भे सुणे हे हमे दिन २ अधिक वखाण मे वधे हे ओर पंचरंगी तप दीय तो हुवा फेर हुसी पडिकमणादिक किरिया सुद्ध होवे हे सर्व वात का आणंद वरते हे अपंच पाठसालाअध्यापक पन्नालालजी कीयो तरजमो माघ का सर्ग तीन को ओर किरात सरग २ दीय को जमले सर्ग ५ को तरजमो श्लोक ५५१० आसरे आय पुगो ने श्लोक २१५०१ आसरे आगे इणारा आय पुगा हे जमले श्लोक २७०११ सतावीस हजाररे आसरे आय पुगो ने कोमदीरा उत्तरार्द्धरा तरजमारा पत्र ४ आय पूगा हे सो जाणसी ओर कोमदीरो तरजमो तुरत भेजावसी अठे लेया खोटी होय हे सो

तुरत भेजावसी ने पन्नालालजीने तनखा नही दीवी वे तो लेखो कर ग्रंथ लेने सर्व चुकती कर देसी हमे एक वार कोमुदी को तरजमो पेछी मेलावसी महाराजरो फुरमावणो हेके दूजा तो न्यारा २ लिखीज जावे पिण कौमुदि को तर्जमो एकठो लिखीज जावे तो ठीक सो आप ताकीद कराय लिखाय मेलसीजी ने पनालालजीने केसी के तरजमो करो कौमुदि को सो इस मुजब करो नकल भेजी हे ओर पनालालजी ने केणो लघुकोमदीको तरजमो तीरा दाय दिरिज गया ने हाल आयो नही सो मगाय मेलावसी ”

इस पत्र को देखते यह मालूम होता है कि राजेन्द्रसूरिजी ब्राह्मणों द्वारा कई ग्रन्थों का तर्जुमा भी कराते थे। इस एक ही पत्र से इतना तो स्पष्ट होता है कि रत्नाम की पाठशाला के अध्यापक पंडित पन्नालालजी से राजेन्द्रसूरिजी ने माघ, किरातार्जुनीय, लघुकौमुदी और सिद्धान्तकौमुदी का तर्जुमा रूपया दिला कर के कराया था ।

इस से भी बढ़कर कई प्रमाण मेरे पास हैं, लेकिन विस्तार के भय से उन्हें छोड़ देता हूं, यदि जरूरत पड़ेगी तो उन को भी प्रकाश में लाने का प्रयत्न करूंगा ।

जहां तक बन सका है; मैं इस पुस्तक की भाषाविषयक सभ्यता तरफ भी लक्ष्य रखना भूला नहीं हूं तथापि इस पुस्तक में यदि कहीं सरल वचन लिख गया हो तो पाठक महोदय क्षमा करेंगे, क्यों कि यह बात मेरे वश की नहीं है, इसका कारण लेखक महाशयों का ही वह उत्तरदान पत्र मानना चाहिये जो विना ही सोचे समझे उद्धर्ताई से असभ्य भाषा में लिखा गया है । क्यों कि यह एक स्वाभाविक नियम है कि

साहचर्ययोग से भी बहुधा वस्तु में-गुण दोष की सृष्टि हो जाती है। अनुभवसिद्ध बात है कि अतिशीतल वस्तु भी प्रबल अग्नि के संबन्ध से प्रायः अपने सहज स्वभाव को छोड़ के उष्णता को धारण कर ही लेती है ।

इस पुस्तक में ' उत्तरदानपत्र ' की भाषासंबन्धी अशुद्धियों की तरफ लक्ष्य न करके सिर्फ विषय की अशुद्धियों की ही मीमांसा की गई है, क्यों कि लेखकों की भाषा तो ऐसी अशुद्ध है कि अगर इस के सम्बन्ध में कुछ लिखने बैठें तो दूसरी कई पुस्तकें बन जायँ, पर ऐसा करने की कुछ जरूरत नहीं है ।

तथा प्रकृत पुस्तक में उद्धृत किये हुए ' उत्तरदान पत्र ' के फिकरों में जो अशुद्धियाँ हैं उन का उत्तरदाता मैं नहीं हूँ, क्यों कि मैंने तो उस पत्र में से फिकरे ले कर ज्यों के त्यों इस में दाखिल किये हैं, इस लिये इनके उत्तर दाता उक्त पत्र के लेखक ही हैं; मैं नहीं ।

विशेषना—

यद्यपि इस तीन के मत के खंडन में आजतक अनेक पुस्तकें छप चुकी हैं, तथापि पाठकमहाशय इस पुस्तक में कुछ विशेषता अवश्य पायँगे । कारण कि अमुक विषय की सामग्री जितनी मुझे मिली है उतनी पहले के लेखकों को शायद ही मिली हो । अतएव मैं यह कहने को समर्थ हूँ कि इस में लिखी हुई सभी बातों को प्रमाण पुरःसर सिद्ध करने को तैयार हूँ, जिस को पृच्छना हो वह खुशी के साथ पूछ लेवे ।

विलम्ब का कारण—

जो कि यह पुस्तक कभी की तैयार हो गई थी, और इसे

मल्दी छपवा देने के लिये जालोर, आहोर, गुड़ा, हरजी, तखत-गढ़ आदि अनेक शहर गांवों के संघ और शासनप्रेमी सज्जनों की प्रार्थना भी कई दिनों से हो रही थी, तथापि विहार, शरीर की अस्वस्थता इत्यादि कारणों से छपने में बहुत विलंब हो गया है । इस के लिए पूर्वोक्त संघ और सज्जनों से क्षमा चाहता हूं ।

निवेदन—

यह एक सामान्य नियम है कि प्राणीमात्र अपनी अनुकूलता और प्रतिकूलता को देख के वस्तु का ग्रहण और त्याग करते हैं । इसी नियमानुसार इस पुस्तक का आदर और अनादर होगा । जिन को यह अनुकूल होगी वे बड़े चाव से पढ़ेंगे, और जिन के लिये यह प्रतिकूल है वे इसे देख के भी चिढ़ेंगे—इस की सत्यता और उपयोगिता में शंका करेंगे । परंतु दोनों प्रकार के पाठकों को मेरा तो यही निवेदन है कि आप को खुशी और नाराज होने की कुछ जरूरत नहीं है । आप को तो पक्षपात को छोड़ के सिर्फ उसी की तरफ लक्ष्य देना चाहिये जो इस में सत्य-तत्त्व रहा हुआ है । तथास्तु ।

ता. १३-५-१७
बड़ांदा.

मुनि कल्याणविजय.



अहं ।

त्रिस्तुतिक-मत-मीमांसा ।

[प्रथम-भाग]



परमात्मा श्री महावीर देव की त्रिकालविषयक पवित्र वाणी की सत्यता संसार भर में सूर्य की तरह प्रकाशमान है, “ पंचमारक में मेरा शासन चालनी प्राय हो जायगा ” इस भविष्यद् भाषिणी आप की वाणी की कई मत पक्षोंने सत्यता कर दिखाई है और वर्तमान में कर रहे हैं ।

त्रैस्तुतिक मत भी इसी प्रकार का एक आधुनिक मत है, इस मतने पवित्र जैन धर्म के अनुयायी मनुष्यों को प्रचण्ड प्रद्वेषानल में होम कर उन की कैसी दुर्दशा की है यह बात अब गुप्त नहीं है, इस मत के प्रचालकों की पोल प्रत्यक्ष कराकर भद्र पुरुषों को इस गड्ढे में पडते बचाना सज्जन पुरुषों का काम है, इसी विचार से “ जैन-भिक्षु ” नाम के किसी शासन प्रेमी लेखक ने “ कोरटा तीर्थ ” शीर्षक लेख में इस मत के प्रवर्तक राजेन्द्र-सूरिजी के कतिपय अनुचित कार्यों का दिग्दर्शन कराया था, इस हितोपदेश का असर ऐसा हुआ; जैसा सुगृही के उपदेश से मूर्ख

वानर के प्रति हुआ था, एक लंबे चौड़े लेखद्वारा गालियों की वृष्टि कर के अपनी कोप ज्वालाएं शान्त करने का उद्योग किया, इस में भी आश्चर्य की बात तो यह है कि “ कोरटा तीर्थ ” लेख का लेखक जैन भिक्षु कोई ओर ही था; और इन का ज्वाला-मुखी किसी ओर ही के ऊपर फटा !, पत्थर किसी ने फैंका और कुत्ता किसी की तरफ झपट्टा । तब क्या यह उचित नहीं कि इस भयंकर भूल से इन बेचारों को बचा लेना चाहिये, बस इसी इरादे से यह लेखक इन के उस लेख की खबर लेने को तत्पर हुआ है और भूल के गंभीर कूप से उद्धार करने के वास्ते हस्तावलंबन भी दे रहा है ।

आप ने अपने लेखका नाम रक्खा है “ तीर्थकोरटा जी के अनुचित लेख का समुचित उत्तर दान पत्र ” अलबत्ता यह नाम ज्यादा नहीं तो हनुमान् की पूंछ जितना तो लंबा अवश्य है, अथवा यही चाहिये था; क्यों कि यह कुदरती नियम है कि जिसमें सार नहीं होता वह बाह्याडंबर से ही अपना टट्टु चलाता है, हिंदी में कहावत है “ थोथे चणे वाजे घने ” प्रकृत पत्र के लेखकों ने इसी कथन को चरितार्थ किया है, क्यों कि पुस्तक में एक भी सग्राहनीय बात नहीं आई तब लंबे नाम से ही संतोष माना ।

लेखकों ने शुरुआत में ही अपनी योग्यतानुसार मंगलाचरण यों किया है—

“ अंधगुरु-अंध श्रद्धा वाला जैनभिक्षु ने श्रीविजयराजेन्द्र सूरिजी के उचित कार्य का अनुचित लेख लिखा जिस का उचित लेख ”

वाह रे वहादुर लेखको ! मंगलाचरण तो अच्छा किया, क्यों कि यह जो प्रारंभिक अंध शब्द है वह 'अंधे हो कर इस उत्तर दान पत्र को लिखेंगे' इस आशय को सूचित करता है और आपने इस का निर्वाह भी अच्छी तरह कर लिया फिर इसे अनुचित क्यों कहें ? ।

आगे लेखक महोदय 'जैनभिक्षु' के लेख के पंन्यासपद विषयक हिस्से का खंडन करने के लिये प्रस्तावना कर के लेख के फिकरे लिखकर कहते हैं कि—

“ बोया गाम के काउसगिये के ऊपरका लेख देखते पन्न्यास पदवी (१२५१) में भी थी, अब इस से आगे भी कहां तक थी इस बात का पत्ता लगाना शेष रहता है । इत्यादि आशंका का लेख इतिहास में उपयोगी नहीं हो शक्ता है, इतिहासोपयोगी लेख तो तब बन शक्ता है कि जब पन्न्यास पदवी का पूरा पत्ता लगा के लिखे सो तो लिखा नहीं ! । ”

मालूम होता है ऐतिहासिक अन्वेषण का तो लेखकों ने तनिक भी अभ्यास नहीं किया, यदि किया होता तो यह लिखने का कभी दुःसाहस नहीं करते कि “ इत्यादि आशंका का लेख इतिहास में उपयोगी नहीं हो शक्ता है ” मथुरा के शिला लेख जो राजा कनिष्क के संवत्सर के हैं, उन्हें आज करीब १८०० अठारह सौ वर्ष हो चुके हैं, यद्यपि उन से इस बात का पता नहीं चलता कि महावीर का शासन (जैन धर्म) कब से चला, तथापि उन से यह सिद्ध हो चुका है कि महावीर-शासन प्राचीन है, और उसी कारण पाश्चिमात्य लोगों ने उन लेखों का बड़ा आदर कर के उन के आधार बड़े २ लेख, निबन्ध और ग्रन्थ लिख

दिये, तो क्या वे सब निकम्मे बैठे थे जो पूरा पता लगाये बिना ही उक्त लेखों को इतिहास में उपयोगी मान लिया ? वास्तव यह है कि सेंकडों तो क्या पच्चीस-पच्चास वर्ष पहले गुजरी बात को बताने वाले लेख भी इतिहास में उपयोगी हो सकते हैं, पर यह बात जरूर है कि पक्षपाती लोग उसे देख भाल नहीं सकते, तो मंगल ही में अन्धपन को याद करने वाले आप-कैसे नवीन लेखक भी इस को न देख सकें तो इस में कुछ आश्चर्य नहीं ।

फिर महाशय हर्ष-तीर्थ कहते हैं कि—

“ प्राचीन तीर्थ के विषय में (३०-३१) पंक्तियां तक पंन्यासपदवी का असंबद्ध लेख लिखना- धोला पे काला ही करना है ! क्यों कि प्रमाणिक जैन शास्त्रों में आचार्य, (१) उपाध्याय, (२) प्रवर्तक, (३) स्थविर, (४) रत्नाधिक, (५) ये पांच पदवियां लिखी है, परंतु पंन्यास पदवी का लेख किसी जैन शास्त्र में खुल्ला देखने में प्रायः जनों को नहीं आता है जिस से कां तो इस बारे में कोई प्रमाणिक जैन शास्त्र का खुल्ला पाठ बतलाना था, नहीं तो उपर लिखित पदवीयां में अमुक पदवी में पंन्यास पदवी अंतर्भूत है ऐसा स्पष्ट लेख लिखते तो भी ठीक था पण तीर्थ का लेख बिना एक ही बोया गामका लेख से पंन्यास पदवी सिद्ध करना आकाश कुसुमवत् है । ”

लेखक महाशयों को इस बात का खयाल है कि “ कोरटा तीर्थ ” शीर्षक जैन भिक्षु का लेख किस विषय में था ? उसका मुख्य साध्य क्या था ? उसका विषय था इतिहास, और वही उसका साध्य था, “ बोया गाम का शिला लेख खास ऐति-

हासिक होने से लेखक ने उसे अपने लेख में दाखिल किया। यह एक सर्व मान्य नियम है कि किसी भी ऐतिहासिक पदार्थ को निरूपण करते समय लेखक को उचित है कि वह उसके सहायक, ध्वंसक सामग्री का वर्णन भी संक्षेप में कर लेवे ता कि मूलविषय की परिस्फुटता हो जाय, ' इसी नियमके अनुरोधसे जैन भिक्षुने अपने लेखमें राजेन्द्रसूरिजी के अनुचित कार्यों का दिग्दर्शन कराया सो अस्थान नहीं बलके लेख की स्पष्टता के लिए है। लेखक महानुभाव आर्चायादि ५ पांच पदवियों को ही शास्त्रीय मानते हैं तो सवाल यह है कि " पंडित पदवी " को आप किस में गिनोगे ? क्यों कि उस को तो आपने पहले ही शास्त्रीय मान लिया है और अब पांच को ही शास्त्रीय कहते हैं। अथवा ठीक है, आप लोगों की गुरु शिक्षा भी यही है कि पहले मन माना लिख देना और आगे जाकर कुछ और ही लिख मारना, बस ऐसे ही अपना धोंसा बजाया करना, पर याद रहे कि जैसे आप अंधपन को मान दे कर लिख देते हैं वैसे पाठक लोग कदापि नहीं करेंगे, वे बाह्य अभ्यन्तर दोनों प्रकार के अपने निर्मल नेत्रों के प्रकाश को ही मान देकर पढ़ेंगे और आपकी इन करतूतों को अच्छी तरह जान लेंगे। यदि लेखकों की मान्यता हो कि " पंडित पदवी " तो पूर्वोक्त पांच पदवियों में अन्तर्भूत हो जाती है तो फिर पंन्यास पदवी के लिए लिखकर क्यों दुःख उठाया ? क्या पंडित और पंन्यास पदवी में भैद है ?। अगर कहा जाय कि ऐसा स्पष्ट लिख देना था कि " अमुक पदवी में पंन्यास पदवी अन्तर्भूत है तो यह भी गलत है, अति स्पष्ट वार्ता को ऐतिहासिक एरु लेख में स्पष्ट करना पिष्ट पेषण तुल्य है, स्पष्टता उस विषय की होनी चाहिये जो दुर्बोध-जटिल हो।

फिर लेखकजी महाराज अपनी कुदरत शाला में से दो चार डिगें बाहर लाते हैं कि—

“ श्री कोरटाजी तीर्थ में गाम से बाहर आधा मील के करीब बाहर का मंदिर बहुत पुराणा है जिस में विद्याधर कुल के श्रीमान् रत्नप्रभ सूरिश्वरजी ने जिस लग्न में श्री महावीर स्वामीजी की प्रतिमा की स्थापना (की) थी वह मूर्ति बहुत वर्षों के किसी कारण योग से पन्नासण से विलुप्त हो गई । ”

मैं लेखकों को पूछता हूँ कि यह विचित्र इतिहास आपने लाया कहां से ? रत्नप्रभ सूरि विद्याधर कुल के थे ऐसा किसी शास्त्र में लिखा है या आप के गाल पुराण की यह एक गप्प है ? शायद गप्प ही है, क्यों कि शास्त्रों में तो रत्न प्रभसूरिजी उपकेश गच्छ के लिखे हैं और आप विद्याधर कुल के थे ऐसा लिखते हैं सो यह गप्प नहीं तो और क्या है । फिर भी देखिये, रत्न प्रभसूरिजी ने सत्यपुर (साचोर) और ओशियाजी में महावीर स्वामी की प्रतिमा स्थापित की ऐसा तो ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होता है पर “ कोरण्टक ” में उन्होंने ने प्रतिमा स्थापन की ऐसा इतिहास तो शायद लेखकों ने पाया हो तो मालूम नहीं, अगर पाया हो तो प्रकाश में लाइये अन्यथा यह भी दूसरी गप्प तो है ही ।

लेखक कहते हैं कि “ कारण वश वह मूर्ति पन्नासन से विलुप्त हो गई थी सो सं. १७२८ में फिर पन्नासन पर बिठाई गई ” सो तो ठीक ही किया है, क्यों कि वे पुराने लोग राजेन्द्र-सूरिजी सरीखे यशोभिलाषी नहीं थे जो पुरानी प्रतिमा को खंडित

का मिष करके दूर कर दें और अपनी प्रतिष्ठित प्रतिमा को लंबे चौड़े लेखों के साथ बिठवा दें ।

फिर लेखक अपनी झूठी करतूत चलाते हैं कि—

“ जो प्रतिमा श्रीमान् रत्नप्रभमुरीश्वरजी ने अंजनशलाकासह प्रतिष्ठित स्थापना की थी उस प्रतिमा का पद्मासन में मूल नायक का अभाव देख के श्री विजयप्रभ मुरि जी के वारे में किस महान् गीतार्थ का उपदेश से मूलनायक जी का स्थान में दूसरी प्राचीन अखंडित अतिशयवंत आचार्य महाराज का हाथ की प्रतिष्ठित श्री महावीर स्वामी जी की प्रतिमा स्थापित की गई थी ”

बिलकुल झूठ है किसी भी गीतार्थ के उपदेश से दूसरी पुरानी प्रतिमा स्थापित नहीं हुई किंतु वही स्थापित हुई जो पहले थी, मतलब यह कि महावीर स्वामी की पुरानी प्रतिमा—जिस की प्रतिष्ठा विक्रम संवत् १२५ में हुई थी—किसी कारण वश वह पद्मासन पर से उठा दी या उठ गई थी, परंतु जब वह कारण निवृत्त हो गया तो सं० १७२८ में फिर उसे स्थान पर बिठा दिया, यद्यपि प्रतिमा जी के कुछ उपांग (अवयव) घिस गये थे तथापि शास्त्र के जान भव भीरु बैठाने वालों ने उस को खंडित कह कर दूर बिठाना और नयी प्रतिमा का स्थापन जो एक बड़ी भारी आशातना है—पसंद नहीं किया, अफसोस ! उसी निर्दोष और भव्य प्रतिमा को मान प्रिय राजेन्द्रमुरिजी ने स्थान से उठवा डाला और इस क्षणिक कीर्ति के आशा-पाश में फँस कर भयंकर आशातना के भागी बन बैठे ! ।

फिर लेखक बयान करते हैं कि “ जैसे श्रीजालोर गढ़ के

ऊपर कुमारपाल भूपाल की कराई हुई अतिशयवन्त श्री हेमचन्द्राचार्य जी की अंजन शलाका सह प्रतिष्ठित स्थापित की हुई प्राचीन प्रतिमा की नासिका हाथ की अंगुली पग की अंगुली, और अंगुष्ठ खंडित होने से भ० श्री विजयदेव सूरेश्वरजी का आदेशसे, पं० जयसागर गणी ने मूल प्राचीन प्रतिमा को गद्दीपर से उठवाकर रंग मंडप में प्यराई और संवत् (१६८१) की नूतन प्रतिष्ठित प्रतिमा श्री महावीर जी की गद्दीपर प्राचीन मूल नायक जी के स्थान में स्थापित कराई वह प्रतिमा श्रीजालोर का किल्ला-पर श्रीकुमारपाल विहार चैत्य में आज तक पूजी जाती है ”

यह भी लिखना लेखकों की अज्ञता को सिद्ध करता है, क्यों कि न तो पुरानी प्रतिमा खंडित मानकर गद्दीपर से उठवाई और न उस कारण उसके स्थान में नवी प्रतिमा स्थापित की गई किंतु बात यह है कि जब जुल्मी राजाओंने जालोर पर चढ़ाई कर उसे फतह कर लिया तब श्री संघने किले पर के तीनों मंदिरों की प्रतिमाएं जैसा मौका देखा भिन्न भिन्न स्थानों में भंडार कर दीं, कारण यह था कि ऐसा करने से वे जुल्मी बादशाहों की अनीति से बच जायँ । बाद जब कि राष्ट्र में शान्ति छा गई तो सहज सागर गणि के शिष्य जयसागर गणि ने अपने आचार्य श्री विजयदेव सूरिजी की आज्ञा से उन मूर्ति रहित मंदिरों की उन्नति की नींव डाली और संवत् १६८१ में सब से पहले श्रीमहावीर स्वामी के मंदिर में नयी प्रतिमा बिठाई, क्रमशः संवत् १६८३-१६८४ में भी श्रीविजयदेवसूरि जी ने कई प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की और बाकी के दोनों मंदिरों की भी मरम्मत करवाई, बाद कितनेक अर्से के वह महावीर स्वामी की पुरानी प्रति-

मा भी किसी स्थान से खंडित दशा में हाथ लग गई तब मंदिर में एक स्थान पर पथरा दी गई, इस प्रकार जालोर के किले की फिर उन्नत दशा हुई जो आज तक टिक रही है, जब जालोर-गढ़ के मंदिरों की यह हकीकत है तो फिर लेखक कैसे कह सकते हैं कि उस पुरानी प्रतिमा को उठवा के नयी स्थापित की ? ।

फिर लेखक महोदय अपना सैद्धान्तिकत्व प्रकाशित करने के लिये लिखते हैं कि—

“ यहाँ किसी को प्रश्न उत्पन्न होगा कि प्रतिमा अंगोपांग खंडित होने के बाद तो भंडारनी चाहिये ? पण पूजनीय न चाहिये तिस का समाधान यह है कि श्रीजैनशास्त्र में कहा है कि (१००) वर्ष के भीतर की प्रतिमा अंगोपांग से खंडित हो गई होय तो भंडारनी, परंतु सो वर्ष उपरांत की प्रतिमा का उत्तमांग खंडित न हुआ होय और उपांग खंडित हुआ होय तो भंडारनी नहीं, अपूजनीय कभी करनी नहीं, ”

लेखकोंने ऐसा किस जैन शास्त्र में देखा कि १०० वर्ष ऊपर की प्रतिमा को अपूजनीय तो नहीं करना लेकिन मूलनायक के स्थान से उठा देना ? । मेरी समझ में तो यह भी लेखकों की निरीडिंग ही है, क्यों कि जैनशास्त्र तो यों कहता है—

“ वरिससयाओ उठुं, जं विवं उत्तमे हिं संठवियं ।

वियलंगु वि पूइज्जइ, तं विवं निष्फलं न जओ ” ॥ १ ॥

(अर्थ) उत्तम पुरुषों का स्थापित सौ वर्ष ऊपर का बिंब विकलांग हो तो भी पूजा जाता है, क्यों कि उस की पूजा निष्फल नहीं जाती ।

लेखक जी इस बात का खुलासा करें कि पुरानी विकलांग

प्रतिमा को मूलनायक के स्थान में क्यों नहीं पूजना ? क्यों कि न तो ऐसा किसी शास्त्र में लिखा है और न इस प्रकार की मर्यादा है, हां, तीनथुइवालों ने तो अपनी पूजा मान्यता के निमित्त यह परंपरा जरूर खड़ी की है ।

फिर लेखक अपनी शान्ति का परिचय देते हुए स्वयं जवाब सवाल करते हैं—

“ यहाँ जैनभिक्षु जैसा कोई अनाचार सवाल करेगा कि गद्दीपर रही हुई प्राचीन प्रतिमा का सुधारने वाले का योग नहीं मिलने से अंगोपांग खंडित प्रतिमा ही वहाँ की वहाँ गद्दीपर पूजी जाती तो क्या हर्ज होता ? इस सवाल का जवाब यह है कि जो प्रतिमा उत्तमांग नासिका प्रमुख स्वल्पांग खंडित होय और अतिशयवन्त होय, अर्थात् देवाधिष्ठित स्वप्नादि प्रयोग वाली का भी स्वल्पांग सुधारने के बाद गद्दी पर रही जाय तो हर्ज नहीं. ”

वाह रे लेखको ! जैन भिक्षु जैसा—जो आशातना करने वालों को हितशिक्षा करे वह तो आप के मत से अनाचार है तो कृपया यह बता दीजिये कि आप सदाचार किसे मानते हैं ? क्या पुरानी प्रतिमाओं को स्थान से उठवाकर नीचे रखवा दे वह आपका सदाचार है, या प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के लेख मुसलमान के पास घिसवा दे वह आप का मान्य सदाचार है ? अफसोस ! लेखक मंदिर मार्गी हो कर के भी प्रतिमाद्वेषियों का आचार कहां से सीख बैठे ? । खैर । आप अपने सवाल का जवाब क्या देते हैं उसे देखिये, वे कहते हैं अल्प खंडित प्रतिमा मूलनायक के स्थान में प्रजी जा सकती है, पर, वह अतिशयवन्त अर्थात्

स्वप्नादि प्रयोग वाली होनी चाहिये, अपने इस मत की पुष्टि में वे सिद्धाचल जी के मूलनायक की मिसाल देते हैं, मैं पूँछता हूँ, ओर तो ठीक, पर,

“ वह स्वप्नादि प्रयोग वाली होनी चाहिये ”

यह आप का कथन किसी शास्त्र के अनुसार है या मात्र गण्य पुराण का अध्याय लिख दिया है ? मुझे तो गण्य पुराण ही मालूम होता है, क्यों कि कई जगह पुराने मंदिर और प्रतिमाओं की अनार्य लोग आशातना कर देते हैं, यहां तक कि उन्हें तोड़ भी डालते हैं. परंतु स्वप्नप्रयोगादि ऐहिक अतिशय कुछ भी नहीं होता, तो क्या वे प्रतिमा देवाधिष्ठित नहीं हैं ऐसा मानोगे ? नहीं, यह बात कदापि नहीं हो सकती, शास्त्र का लेख है कि—

“ जो लक्षणोपेत पदार्थ होता है वह देवताधिष्ठित होता है ”

तो जिनेन्द्र प्रतिमा-जो संपूर्ण लक्षण युक्त होती है—देवताधिष्ठित न होवे ऐसा इन निर्भीक लेखकों के विना दूसरा तो कहने को समर्थ नहीं हो सकता ।

फिर लेखक अपना मन्तव्य सिद्ध करने की वृथा चेष्टा करते हैं कि—

“ जैसे लौकिक में राजा चक्ष्वादि हीन उत्तमांग हीन न होय तब तो राजगद्दी पर सेवन योग्य प्रायः रहता है और चक्ष्वादि उत्तमैन्द्रिय हीन होने बाद—एकान्त गद्दी सेवने योग्य होता है वैसे ही लोकोत्तर में भी आचार्यादिक चक्ष्वादि इंद्रिय हीन होने बाद एकान्त सेवने योग्य होते हैं, तैसे ही लोकोत्तर देव प्रतिमा भी गद्दी पर सेवने योग्य रखने से उपवृहणात्मक सम्यक्त्व का नाश करके प्राणी तीर्थादिक की महा आशातना का भागी हो जाता है ऐसा पुस्त (दृढ) विचार

और अतिशय स्वप्नादि कारण न होने से श्री विजय राजेन्द्र सूरिजी ने तो श्री प्राचीन तीर्थ की आशातना टालनेका उचित (योग्य) कार्य किया है ”

वाह ! असत्कल्पना का भी कुछ पार है, लेखक जी ! कुछ सोच विचार के लिखिये महेरवान ! प्रथम तो आपका कल्पित राजा का दृष्टान्त ही असिद्ध है । खयाल करो ! क्या ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती नेत्रहीन होने के बाद राजगद्दी से उतार दिया गया था ? यदि कहा जाय यह बात तो नहीं हुई तो फिर आपका लौकिक दृष्टान्त असिद्ध ठहरा या नहीं ? । फिर लेखकों ने लोकोत्तर विषयक आचार्य का उदाहरण दिया पर वह भी यहां पर घटमान नहीं हो सकता, क्योंकि वह प्रतिमा तो चक्षु सहित है इस लिए चक्षुहीन आचार्य के दृष्टान्त से कदापि उत्थाप्य या गोप्य नहीं हो सकती, इस वास्ते राजेन्द्र सूरिजीने वह कार्य पुरख्त विचार से नहीं किया, किंतु क्षुद्र विचार से ही किया है, और वह आशातना मिटानेका नहीं; पूर्ण आशातना करने का । हृदय में तनिक भी सौचो यह मेरा कहना असत्य नहीं है ।

लेखक कहते हैं—

“ राजेन्द्रसूरिजीने लेश मात्र भी मानाभिलाषिणा नहीं किया ”

लेखक जी ! ‘ भी ’ शब्द निकाल दो फिर आपका कहना ठीक मानूंगा, क्यों कि यह बात सत्य है कि उन्होंने ने लेश मात्र मानाभिलाष नहीं किया, अर्थात् बहुत किया था, और यही कारण है कि उन्होंने ने बाह्यवृत्त्या द्रव्यपरिग्रह आदि का त्याग कर के भी किसी भी त्यागी गुरु के पास उपसंपद् धारण नहीं की, लेखक महाशय खयाल करें कि महानिशीथ, हीरप्रश्न विगैरह

अनेक शास्त्रों के प्रमाण मिलने पर भी राजेन्द्रमूरिजी ने क्रियोद्धारक गुरु नहीं किये इस का सबब क्या है ? क्या उनको अन्वेषण करने पर भी कोई त्यागी गुरु नहीं मिले ?, नहीं, यह बात हर्गिज नहीं कह सकते, भगवान श्री महावीर देव का धर्म-शासन इक्कीस हजार वर्ष तक अविच्छिन्न परंपरा से चलेगा, और जब तक वह शासन जारी रहेगा तब तक शास्त्रानुसार चलने वाले साधुओं का विच्छेद नहीं होगा यह जैनसिद्धान्त का सर्व मान्य नियम है, असली बात तो यह है कि उन्होंने अभिमान के मारे किसी के आगे शिर झुकाना मुनासिब नहीं समझा, इस लिये किसी के भी पास क्रियोद्धार करके उपसंपद नहीं ली, लेखक जी ! यह आप के राजेन्द्रमूरिजी का लेश मात्र तो नहीं किंतु बहुत मानाभिलाषिपन है या नहीं ? ।

फिर लेखक झूठी करतूत आगे करते हैं कि—

“ प्राचीन प्रतिमा का बहूत अवयव खंडित देखके सुधारने वाले का अवसर पर योग नहीं मिलने से गद्दी पर से उठवा कर उसका सुधारा करने के लिये पूर्वाचार्यों का अनुकरण से अन्य स्थान में स्थापित करवाना, इत्यादि तीर्थ का सुधारा अपने भक्त लोगों को उपदेश करके करना करावना यह कुछ आशातना का कारण तथा मानाभिलाषिपणा जैन शास्त्रों के न्याय से प्रतीत नहीं होता है ”

यह लेखकों की सरासर जाल साजी है, नयी प्रतिमाओं का योग तो मिल गया और पुरानी को सुधारने वाले का योग नहीं मिला यह कथन तो लेखकों के अंधश्रद्धालु भक्तों के सिवा और कोई भी नहीं मानेगा, क्यों कि ‘अवसर’ शब्द से ही आप की कपटी वृत्ति प्रकट हो रही है, सैंकड़ों बल्के हजारों जैन-प्रति-

माओं को तो सुधारने वालों का योग जब चाहे मिल जाता है, और कोरटा की एक प्रतिमा को सुधारने वालों का योग नहीं मिला यह आप का बचाव सर्वथा निर्माल्य और झूठा है, सुधारने वाले का योग भी मिल सकता और यह अच्छी तरह सुधर भी सकती थी पर ऐसा करना ही नहीं था फिर कैसे हो सके ! ।

फिर लेखक महानुभाव लिखते हैं—

“ वेशक सावद्य (पाप) सहित काम का बोलना तो श्रीविजय राजेन्द्रसूरिजी का कम था पण मलमलीन वस्त्र तो वे नहीं रखते थे, वे तो (पांडुर पाउरण) अर्थात् सपेत मानोपेत जीर्णप्राय वस्त्र रखते थे ”

विलकुल ही झूठ है, कौन कहता है राजेन्द्रसूरिजी सावद्य कम बोलते थे ? कभी कभी तो वे इस प्रकार झूठी बातें उडा देते थे कि गृहस्थ लोग भी उनसे नफरत करने लगजाते थे, क्या यह सावद्य नहीं है ? या कम है ? । वस्त्र के विषय में भी लेखकों का झूठा बचाव है कि वे मलमलीन वस्त्र नहीं रखते थे जिन्होंने राजेन्द्रसूरिजी या उन के साधुओं की शक्त देखी है वे यही कहते हैं कि यह भी एक ढुंढकमत का भाई बाह्याडंबरी मत है जो मलीन वस्त्रों से ही लोगों को फसा देता है । लेखकों का कथन कि-वे सफेद-मानोपेत-जीर्णप्राय वस्त्र रखते थे—सरासर झूठा है, राजेन्द्रसूरिजी जीर्णप्राय वस्त्र नहीं रखते थे किंतु साफ नया रखते थे और अब भी उन के अनुयायी आप लोगों की वही दशा है, जीर्णप्राय तो वह कहा जाता है जो गृहस्थों के लिये अनुपयोगी या कम उपयोगी हो गया हो, नया वस्त्र लेकर दश-पंद्रा रोज भीतर वापरने से वह जीर्णप्राय नहीं होता, यह तो सिर्फ आप लोगों की कपट-पटुता का नम्रना है ।

फिर लेखक जी अपनी साधुता का चिन्ह दिखाने के लिये भाषा-समिति का सदुपयोग करते हैं कि—

“ परंतु जैन भिक्षु का दादा पर दादा ही मलमलीन वस्त्र रखते थे तिसको छोड़के जैन भिक्षु का गुरुने पीत वस्त्र (फकीरों का वेष) धारण कर कितनेक अंगस्थान में श्वेत वस्त्र और कितनेक अंग स्थानमें पीत वस्त्र अपनी पूजा मानता पेट भरने के खातिर भांड चेष्टा भेष विडंबक हो कर जैनभिक्षु पणा का पद छोड़-जैन भिखारी पणा किया !! तैसे राजेन्द्रसूरिजी नहीं करते थे. ”

लेखकों ने क्या यही व्रत धारण कर लिया है कि मुंह आया अंड बंड लिख मारना ? क्यों कि न तो जैन भिक्षु के दादा पर दादा मलमलीन वस्त्र रखते थे और न उन को जैन भिक्षुने छोड़ा है, कारण विशेष में नये वस्त्र का वर्ण पलटना फकीरों का वेश नहीं है यह जैन शास्त्र संमत मुनियों का वेश है, अपने ही मुख से अपनी योग्यता का पता देने वाले लेखक ! नमस्कार ! बार बार नमस्कार ! इस मधुर लिखान के लिये आप को क्या पारितोषिक दूं, मुझे कुछ नहीं सूझता, सिर्फ यही कह कर संतोष मानता हूं कि ऐसे प्रियभाषी लेख आप ही को मुबारिक हो । लेखक ! प्रिय-भाषी लेखक ! भला आप अपनी तो बता दीजिये कि आप और आप के गुर्वादि सब लोग नये वस्त्र गृहस्थों के घर से ला कर वापरते हैं सो यह ! किस जैन शास्त्र की टांग तोड़ते हैं ? क्यों कि शास्त्र में तो साधुओं के वस्त्रविधान में प्रथम तो श्वेतमानो पेत-जीर्णप्राय वस्त्र ग्राह्य कहे हैं, और देशकालादि विशेष में नये वस्त्र को कत्थे चूने आदि से वर्ण बदल कर के भी रखना कहा है। यह द्वितीय प्रकार निम्न लिखित निशीथ के पाठ की चूर्णि से प्रकाशित होता है, वह पाठ यह है—

“ जे भिक्खू वा णवए मे पडिग्गहे लद्धे त्ति कट्टु लोद्धेण वा कक्केण वा एहाण (वण्णेण) वा चुण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उवट्टेज्जा वा उल्लोलंतं या उवट्टंतं वा साइज्जइ ”

यह पाठ निशीथ सूत्र के चौदहवे उद्देशे में पात्रवर्णनाधिकार में पाटण के भंडार की बहुत ही पुरानी प्रत के पत्र ३९० में है, इस में नवीन पात्र रंगने का विधान है, वस्त्रवर्णन में १८ अठार वें उद्देशे में इसी चउदवे उद्देशे का अतिदेश किया है, वह पाठ उसी प्रत के पत्र ४७ वे में इस मुजिब है—

“ जे एवं चउदसमे उद्देशे पडिग्गहे जो गमो भणिओ सो चेव इह वत्थेण णेयन्वो ”

अर्थ इस का यह है कि ‘ जे भिक्खू ’ इत्यादि चउदवे उद्देशे में पात्र संबंधी जो पाठ कहा है वही यहां पर वस्त्र के नाम से जानना; पूर्वोक्त पाठों से चूर्णिकार ने यह तात्पर्य निकाला है कि वस्त्र-पात्र को नूतनतादि कारण में तीन पसली से ज्यादा वर्णक पदार्थों से रंगे तो प्रायश्चित्त है अर्थात् उक्त कारण में तीन पसली तक से रंगने में प्रायश्चित्त नहीं है, और जब प्रायश्चित्त नहीं तो उस में दोष भी नहीं है, क्यों कि दोष होता तो प्रायश्चित्त जरूर होता ।

इसी अर्थ को कहता हुआ बृहत्कल्प के तृतीय खंड की टीका का पाठ भी पढ़ लीजिये,

“ यदि विभूषार्थं वस्त्रादि रञ्जति तदा प्रायश्चित्तम् ”

यानी जो सोभा के लिये वस्त्र आदि रंगे तो प्रायश्चित्त आता है, इस से भी यही सिद्धान्त प्रमाणित होता है कि सोभा के सिवा दूसरे कारण प्रसंग से वस्त्र पात्रादिक रंगे तो दोष और प्रायश्चित्त

नहीं है, इत्यादि अनेक शास्त्रों के प्रमाणों से मध्यस्थ पाठक महोदय व-खूवी समज सकते हैं कि साफ नये वस्त्र का वर्ण परावर्तन करना शास्त्र विरुद्ध नहीं बल्के शास्त्र प्रतिपादित मार्ग है, शास्त्र विरुद्ध कार्य तो यह है जो जीर्णप्राय वस्त्र भी नहीं लेना और नया लेकर उस का वर्ण बदल भी नहीं करना, जैसे लेखकों का गुर्वादि परिवार कर रहा है ।

लेखक महाशयो ! जरा आंखें खोल के सूत्रों के पाठ देखो और सौचो कि नये वस्त्र का कत्थादि पदार्थोंसे वर्ण बदलना सिद्ध होता है या नहीं ? अगर लेखकों की मान्यता हो कि यह तो कारणािक बात है, तो कहना चाहिये कि वह कारण क्या है ? शायद लेखक कहेंगे कि वह कारण मदिरादि दुर्गंध है (यानी मदिरादि दुर्गंध मिटाने के लिये वस्त्र कत्थादि पदार्थों से रंगना चाहिये) तो यह भी गप्प है, क्यों कि सूत्र के ' णवए मे वत्थे (या) पडिग्गहे लद्धे त्ति कट्टु ' इस वाक्य में तो नवीन वस्त्र की प्राप्ति ही कारण बताया है तो तुम्हारा अभिमत ' मदिरादि दुर्गंध ' को कारण किस प्रकार इस विषय में माना जाय ? यदि लेखक कहेंगे कि निशीथ सूत्र के मूल पाठ से नवीन वस्त्र की प्राप्ति रंगने का कारण कैसे निकल सकता है ? तो उत्तर यह है कि पाठ में रहे हुए " इति कट्टु " शब्द से यह अर्थ निकलता है, क्यों कि उपर्युक्त शब्द का संस्कृत में " इतिकृत्वा " यह स्वरूप बनता है, और " इतिकृत्वा " का संस्कृत पर्याय " इति हेतोः " है, इस का अर्थ " इस हेतुसे " ऐसा होता है, यह अर्थ कल्पित नहीं किंतु शास्त्र प्रतिपादित है, पाक्षिक सूत्र टीका में यशोभद्र सूरिजीने " इति कट्टु " शब्द का यही अर्थ किया है, पाठ यह

है “ इति कट्टु=इतिकृत्वा=इति हेतोः ”, इस का अर्थ पहले लिख दिया है, इस कथन में किसी को शक हो तो पूर्वोक्त ग्रन्थ देख लेवे। इस सब विवेचन का तात्पर्यार्थ यह मिला कि यदि नवीन-तादि कारण से वस्त्र की शोभा हटाने के लिये उस का वर्ण बदल किया जाय तो दोष नहीं किंतु गुण है, यह मात्र युक्ति ही न समझिये यह एक न्याय प्रसिद्ध सिद्धान्त है, जैनों के मान्य न्याय के ग्रन्थ ‘ रत्नाकरावतारिका ’ में क्या लिखा है लेखकों ने देखा है ?

उस में इस प्रकार लिखा है—

“ विशेषप्रतिषेधस्य सामान्यविधिनान्तरीयकत्वात् ”

याने विशिष्ट वस्तु का प्रतिषेध सामान्य का विधिप्रतिपादक होता है, जैसे,

“ गुध्विणी बालवच्छा य पच्चावेउं न कप्पइ ”

अर्थात् गर्भिणी और बाल बच्चे वाली स्त्री को दीक्षा देनेी न कल्पे, इस से यह सिद्धान्त निकला कि इन के सिवा दूसरी स्त्रियों को दीक्षा कल्पे, इसी प्रकार यहां पर भी विभूषा (शोभा) के सिवा दूसरे कारणों से वस्त्रोंका वर्ण बदल करना यह एक सीधा न्याय मार्ग है, यदि लेखक महाशय उत्तराध्ययन-टीका को मुंदी आंखों से देख के यह कहें कि वर्ण परावर्तित वस्त्र भांडों का वेश है तो मैं दिलगिरी के साथ कहूंगा कि आप जरा आंखों को तक्र-लीफ दे कर के देखें कि किस जगह भांडों का वेश कहा है, यह बात ओर है, यदि आप के गण्य पुराण में लिखा हो तो मैं नहीं कह सकता, बाकी उस में तो यह कहा है कि पार्श्वनाथ के शि-ष्यों के लिये रक्तादि वर्ण वाले वस्त्रों की अनुज्ञा है और वर्द्धमान

के शिष्यों को श्वेत वस्त्र की अनुज्ञा है, सो यह उत्सर्गमार्ग वि-
षयक-प्रतिपादन जैन भिक्षु को तो क्या सब को प्रमाण है, क्यों
कि श्वेत मानोभेत-जीर्णप्राय इन तीन विशेषणों से युक्त साधु के
योग्य वस्त्र यदि मिल जाय तो हमें उसको रंगने की कुछ जरूरत
नहीं । इसी प्रकार ओर जगह भी जो श्वेत वस्त्रों का विधान है
वह उत्सर्ग (कारण विनाका) मार्ग है. लेखक महोदय ! कुछ
सोच विचार के लिखा करें, क्यों कि दूसरों को भांड बनाने की
चेष्टा करते आप खुद ही भांड न बन जायँ यह ख्याल रखना ! ।

यह बात भी लेखकों को विदित होनी चाहिये कि वर्णपराव-
र्तित वस्त्रों को जैन मुनि पूजा मान्यता के लिये नहीं रखते किंतु
शास्त्रानुसार संयम की रक्षा और आत्म-रक्षा के लिये रखते हैं,
क्यों कि विवर्णवस्त्रों से पूजा मान्यता नहीं होती, पूजा मान्यता
होती है बाह्याडंबर से, जैसे आप तीन थुई वालों के पूज्य गुरु
करा रहे हैं ॥

अब लेखक जैन भिक्षु की बताई हुई राजेन्द्रसूरिजी की
अशुद्धियों का झूठा समाधान करनेकी शुरुआत करते हुए अपनी
सज्जनता को प्रगट करते हैं कि,

“ ये सब श्रीविजयरजेन्द्र सूरिजी के संस्कृत ज्ञान खजाने का तो
नमूने नहीं है लेकिन अंध गुरुकी अंध श्रद्धा के भेष विडंबक जैन-
भिक्षुजीने काली काशी में संस्कृत पढ के अपने अज्ञान खजाने से प्रगट
किये है ” !! क्योंकि (१) “ विंबं लिखकरके फिर कारापिता लिखना ”
यह अशुद्धि (भूल) लेखक की अथवा खोदनेवालेकी और जैन
भिक्षुजी की अज्ञानता की है ”

लेखक जी ! आप भी अपने गुर्वादिकी मवाफिक भांग

विगैरह का नशा लेते मालूम होते हैं, क्यों कि बार बार जैन-भिक्षु के गुरु को अंध बताते हो इस लिये तुम्हारा सब कारभार नशे में ही होता है ऐसा जाना जाता है, अथवा तो तुम्हारी बुद्धि ही फिर गई है इनके सिवा तीसरा कुछ भी कारण नहीं जान पड़ता । लेखक ! इस आप के लिखान से तो आप ही खुद अज्ञान के अंधेरे से घेरे हुए मालूम देते हैं क्योंकि जैनभिक्षु के तो गुरु क्या आज तक कोई भी अंध नहीं हुआ और होगा भी नहीं, जैनभिक्षु की परंपरा ही ऐसी नहीं कि चमार, मेणा, नाई, कुह्यार, विगैरह अस्पृश्य और जुंगितां को मुंड के देखते भी अंधे बन जाय, यह रीति तुम्हारे ऐसे शिष्यों के लोभी साधुओं के आगे ही सफल होगी, जैनभिक्षु की पवित्र परंपरा में नहीं ।

लेखक अपने राजेन्द्रसूरिजी की अशुद्धियों को लेखक या खोदने वाले के शिर मढ़ते हैं पर इस जाल-साजी को बुद्धिमान लोग कैसे सत्य मानेंगे ? क्यों कि एक दो या चार अशुद्धियां हों तब तो लेखकादि के शिर भी चढ सकती है पर एकेक श्लोक की आठ २ दश २ अशुद्धियां लेखक या खोदने वाले की नहीं हो सकतीं क्या राजेन्द्रसूरिजी देख सुन नहीं सकते थे जो खास अपने लेखों की भी अशुद्धियां देखी सुनी नहीं ? । असल बात तो यह है कि वे पढे लिखे ही इतने ही थे इस लिये ज्यों त्यों गडबड लिख मारते और अपना टडू चला लेते थे, यह मेरा कथन आगे जाते अच्छी तरह सिद्ध हो जायगा ।

(२-३) “ सूरिश्वर ” तथा “ महाराज कोरटा नगर ” इन दो अशुद्धियों का समाधान भी इसी प्रकार का निर्जीव है ।

(४) “ राष्ट्र वंशीय यह दोनों शब्द तो सर्ववाची है उस के

स्थान में राष्ट्र कूट यह दोनों शब्द देशवाची लिखना ये भूल तो जैन भिक्षुजी के अज्ञान खजाने की ही है ”

वाह जी वाह ! न्याय की टांग तोड़नी तो ठीक सीखे हो जरा दिमाग स्थिर रक्खो और बुद्धि को काम में लाओ ! । मुंहसे तो कह रहे हो कि ‘ राष्ट्र वंशीय ’ ये दोनों शब्द सर्व वाची हैं तो फिर आपकी बुद्धि कहां चली गई है कि देशवाची शब्द के विषय में सर्व वाची शब्द प्रयोग को शुद्ध कहते हो ? । बेचारे राजेन्द्रसूरिजी ने तो बे-समझ से इस मुजब लिख दिया परंतु तुम तो जान बुझ के इस अशुद्ध प्रयोग को शुद्ध ठहराने की कौशिश करते हो, यही आश्चर्य और खेदजनक विषय है ! । क्यों कि ‘ राष्ट्र ’ यह किसी वंश विशेष का नाम नहीं है किंतु ‘ राष्ट्रकूट ’ यह वंश विशेष का नाम है जिसे भाषा में ‘ राठौड ’ बोलते हैं इस वास्ते यहां पर ‘ राठौड ’ की प्रकृति ‘ राष्ट्रकूट ’ ही लिखना समुचित है, ‘ राष्ट्रवंशीय ’ लिखना और उसे शुद्ध कहना राजेन्द्र-सूरिजी और लेखकों की बड़ी भारी भूल है ।

(५) इस अशुद्धिका निराकरण लेखक महोदय अपनी दोनों आंखें मुंद के इस प्रकार करते हैं—

“ संवच्छते त्रयत्रिंशन्नन्दैकविक्रमाद् वरे विक्रमात् विक्रम से त्रय-त्रिंशन्नन्दैके शते अंकस्य वामा गतिः इस न्याय से (१९३३) वरे (श्रेष्ठ) संवत् में इस आशय से संवच्छते त्रयत्रिंशन्नन्दैके विक्रमाद्वरे ऐसा विशुद्ध लेख श्री विजयराजेन्द्र सूरिजीने लिखवाये थे ”

लेखक जी ! जरा आंखे खोल कर देखो मूल लेख में “ नन्दैके विक्रमाद् ” ऐसा नहीं है, किंतु “ नन्दैकविक्रमात् ” ऐसा है तो क्या यह आप की चाल बाजी नहीं है कि “ नन्दैकविक्रमात् ”

इन समस्त पदोंको व्यस्त मान के आंखों आडे कान करना चाहते हो? याद रहे कि इस प्रकार की आपकी चालाकियां यहां पर नहीं चलेंगी, यदि आप की निर्बलता के खातिर यह मान भी लें कि राजेन्द्रमूरिजी का आशय “ नन्दैके विक्रमात् ” इस पर था तो भी आप की वकालत सफल नहीं होगी क्यों कि ऐसा मानने पर भी वह प्रयोग निर्दोष नहीं हो सकता “ अङ्गानां वामतो गतिः ” इस सिद्धान्त को जैनभिक्षु और हम अच्छी तरह जानते हैं, पर “ त्रयस्त्रिंशन्नन्दैके शते ” इस वाक्य में रहे हुए “ त्रयस्त्रिंशत् ” इस पद का तो वर्षों के और “ नन्दैके ” इसका ‘ शते ’ इस के साथ अन्वय कराने वाला न्याय सिद्धान्त तो त्रैस्तुतिक मत के साथ जनम! हो तो मालूम नहीं, लेखक जी! क्या ऐसा सिद्धान्त आप बता सकते हैं? यदि कहा जाय कि यह बात तो नहीं है तो फिर “ त्रयस्त्रिंशत्तन्दैके शते ” इस विषम वाक्य से (१९३३) एसा अर्थ कहां से पाओगे? क्यों कि इन समस्त शब्दों से तो ‘ विक्रम से (३३००) तैंतीस वी शताब्दी में ’ ऐसा ही सीधा अर्थ निकलता है दूसरा नहीं ।

(६-७) इन दो अशुद्धियों का समाधान लेखकजी इस रीति से करते हैं,

“ तेजसा के स्थान में तेजेन लिखना ” (७) स्वरिपून् चाहिये उस के स्थान में सो रिपून् लिखना यह दोनो खोट (भूल) जैनभिक्षुजी के संस्कृत की अज्ञानता वा शब्दज्ञान की अनभिज्ञता का बहूत अच्छा फोटो दिखाई देता है !! क्यों कि -तेजस् शब्द सकारान्त है, तथापि प्रत्यान्तर (याने) तिञ् निशाने धातु से अच् प्रत्यय करने से अकारान्त भी हो सकता है सरिपून् के स्थान में स्वरिपून् लिखने से

छंद का दोष और अशुद्ध प्रयोग का दोष दूर हो जाता है इस लिये यह दोनों भूले श्रीविजयराजेन्द्रसूरिजी की नहीं है किंतु जैनभिक्षुजी के अविचार की ही है !”

लेखक जी ! ‘तेजेन’ और ‘सो रिपून्’ ये दोनों अशुद्धियां जैनभिक्षुजी के अविचार की नहीं हैं । आप के बड़े दादे के अज्ञान की हैं—राजेन्द्रसूरिजी के अज्ञान से जनित हैं; जिन्हें ठीक करने की चेष्टा से आप खुद अनजान बन रहे हैं क्यों कि ‘तेजस्’ शब्द किसी प्रकार भी अकारान्त बन कर आप के सूरिजी और आप की पंडिताई नहीं साध सकता, ‘तिज्’ धातु से अच् प्रत्यय लगा कर ‘तेज’ शब्द बनाने की युक्ति भी आप की बुद्धि को बखान रही है, क्यों कि ‘अच्’ प्रत्यय तो कर्तृ-अर्थ में होता है इस लिये इससे बने हुए ‘तेज’ शब्द का अर्थ होगा ‘तीखा करने वाला’ विद्वत्ता की टोंग तोड़ने वाले लेखक जी ! इस अर्थ से क्या आप की अभीष्ट सिद्धि हो जायगी ? गुणवाचक भावप्रत्ययान्त ‘तेजस्’ शब्द का मतलब द्रव्यवाचक कर्त्रर्थक ‘अच्’ प्रत्ययान्त ‘तेज’ शब्द से कदापि नहीं निकल सकता, लेखक जी यदि ‘तिज्’ धातु से भाव अर्थ में ‘अल्’ या ‘घञ्’ प्रत्यय लगाते तब तो अपनी कल्पना सार्थक हो भी जाती, पर ऐसा करे कौन, इतनी बुद्धि और व्याकरण-बोध लावें किस बाजार में से ! लेखकराज ! यदि आप को तो इतना बोध नहीं है परंतु आपके गुरुजी भी तो पंडिताई का दावा करते हैं क्या उन्हें भी इस बात का पता नहीं लगा कि ‘तेजस्’ शब्द का अर्थ अच् प्रत्ययान्त ‘तेज’ शब्द से कैसे मिलेगा ? अथवा ठीक है, जिन्हें अंधपन ही प्रिय है उन को शुद्धाऽशुद्ध को परीखने की शक्ति

कहाँ से मिलेगी !, 'सो रिपून्' इसके स्थान में लेखक जी 'स्वरिपून्' ऐसा मान के शुद्ध ठहराते हैं लेकिन राजेन्द्रमूरिजीने तो 'सो रिपून्' ऐसा लिखवाया है, प्रथम तो किले पर का लेख देख लेवें वहाँ 'सो' है कि 'स्व' पीछे झूठी युक्तियाँ करें। दूसरी यह भी बात है कि लेखकों की उस कुयुक्ति से भी 'खंडयामास स्वरिपून्' यह श्लोक का चरण निर्दोष तो हो ही नहीं सकता, यों भी 'छन्दोभंग' दोष तो बना ही रहता है यह एक सामान्य नियम है कि—

“ श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं, सर्वत्र लघु पञ्चमम् ”

यानी श्लोक के सब चरणों में पांचवाँ अक्षर लघु और छठा गुरु जानना, 'खंडयामास स्वरिपून्' यहाँ पर इस नियमसे उलटा वर्ताव है लघु के स्थान गुरु और गुरुके स्थान में लघु अक्षर है, यह तो “ अजमपनयत उष्ट्रप्रवेशः ” इस न्याय वाली बात हुई कि एक अशुद्धि को दूर करते हुए आप के पीछे दूसरी दो अशुद्धियाँ लग गईं, लेखक जी ! क्यों अब तो आप को निज बुद्धिमानी की परीक्षा हुई या नहीं ? ।

(८) इस अशुद्धिका प्रतीकार लेखक जी यों करते हैं —

“ विजयसिंहश्च कल्ला इस पद में आठ अक्षर लिखे हुए मूलस्थान के लेख में मौजूद है इस के बदले में विजेसिंहश्च कल्ला, ऐसा पद (एक अक्षर न्यून सात अक्षर) लिख छपवा के जैनभिक्षु जी कपट का काला कपडा ओढ के छलांध कूप में ढाँग मारी है । ”

लेखकों को झूठ बोलने का भी कुछ डर है या नहीं ? क्यों कि मूल लेख में तो 'विजेसिंहश्च कल्ला' ऐसा सात अक्षर का चरण है तो लेखक किसकी आंखों से देख कहते हैं कि मूल लेख में

आठ अक्षर हैं ? । पाठकमहाशय ! आप इस बातका निर्णय कर सकते हैं कि छलान्ध कूप में जैनभिक्षु पडा है या ' समुचित उत्तर-दान पत्र ' के लेखक महानुभाव । क्यों कि मूल लेख में तो साफ २ सात अक्षर ही लिखे हुए मौजूद हैं और लेखक कहते हैं आठ हैं, यही उनके कपट का नमूना किले पर का लेख देखने से अच्छी तरह प्रगट हो सकेगा ।

(९) इस भूल का सुधार लेखक इस प्रकार करते हैं,

“ जीर्णोद्धारः करापितः ” ऐसा प्रवृत्ति निमित्त शुद्ध प्रयोग से ही छंद दोष अलग हो गया तो जैनभिक्षु जी करापितः ऐसा शुद्ध प्रयोग लिख के कौनसा दोष का परिहार करेगे सो बताना चाहता था ? इस लिये यह भूल भी जैनभिक्षु की ही है । ”

कौन कह सकता है कि ' जीर्णोद्धारः करापितः ' यह प्रयोग शुद्ध है ? ' करापित ' यह शब्द लेखकों की बुद्धिकी माफिक विलकुल रही है, क्यों कि यह संस्कृत व्याकरण से किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता ।

लेखकों ने यह तो लिख दिया कि ' करापित ' शब्द प्रवृत्ति निमित्त शुद्ध है पर शब्दबोधप्रक्रिया का भी कभी अध्ययन किया था या नहीं ?, मालूम तो नहीं होता कि अध्ययन किया हो, या तद्विषयक ग्रन्थ वांचा हो । कारण कि कुछ भी शब्द-बोध की गंध ली होती तो ' करापित ' शब्द को प्रवृत्तिनिमित्त शुद्ध नहीं कहते । लेखकों को मालूम है कि प्रवृत्तिनिमित्त किस चिडिया का नाम है ? । क्या अशुद्ध शब्द का भी कोई प्रवृत्ति-निमित्त हो सकता है ? । वाह रे लेखकों की विद्वत्ता ! अब तो अशुद्धशब्दों का भी दिन बल गया, क्यों कि उनका

भी प्रवृत्तिनिमित्त मानने वाले जगत में पैदा होने लगे हैं, लेखकजी महाराज ! कुछ न्यायशास्त्र का भी अभ्यास करो, किन शब्दों के कौन प्रवृत्तिनिमित्त होते हैं इस विषय का ज्ञान प्राप्त करो और शक्तिवादादि ग्रन्थों का भी मतलब हासिल कर लो, ऐसा कर के फिर किसी भी विषय का खंडन मंडन करने को तय्यार होवो, ताकि आप की बुद्धि जनसमाज में हास्य का कारण न होवे ।

(१०) इस अशुद्धि को भी लेखकजी लिखने खोदने वालों के शिर स्वार करते हैं, पर लेखकजी को सोचना चाहिये कि हुंढक विगैरह—जो लोग प्रतिमा को नहीं मानने वाले हैं—यह कहेंगे कि सूत्रों में मूर्त्ति-पूजा का अधिकार सूत्रलेखकों ने भूल से लिख दिया है, या ' मूर्त्ति मानना नहीं ' ऐसा अधिकार सूत्रों में था सो लिखने वालों के दृष्टिदोष से रह गया, तो क्या यह प्रलाप-युक्तिशून्य कथन किसी भी बुद्धिमान को मान्य हो सकेगा ? नहीं, ऐसा हर्गिज नहीं हो सकता, विद्वान् लोग युक्तिशून्य बात में और मूर्ख की बात में कुछ भी फर्क नहीं समझते,

हां तब तो

“ लिखने वाले और खोदने वाले की ये भूलें है ” यह आप का कथन संगत भी हो सकता यदि राजेन्द्रमूरिजी को संस्कृत का ज्ञान होता और स्थान स्थान पर उन की अशुद्धियां दृष्टिगोचर नहीं होतीं, सो तो है ही नहीं, बड़ा ग्रन्थ तो बड़ी चीज है, पर, उन का बनाया हुआ छोटे से छोटा चैत्यवन्दन स्तुति या प्रशस्ति लेखादि भी देखते हैं तो उस में इतने अशुद्धियों के कीड़े किलबिलाते हैं कि बांचने वाले का जी घबड़ा

जाता है, और तत्काल उस पुस्तक को हाथ से छोड़ देने की इच्छा हो जाती है, हां उन लोगों के लिए इस में अपवाद सम्झना चाहिये कि जो खुद अशुद्धियों के ही स्थान बने हुए और उसी में संतोष मानने वाले हैं, क्यों कि वे तो उसी में सार मानेंगे जैसे विष्ठा के कीड़े विष्ठा में ।

पाठक गण ! मेरी पवित्र लेखनी तो एक भी कटु शब्द लिखते कांपती है, तथापि मुझे जी कड़ा कर के भी उन के लायक कटु तो नहीं लेकिन कुछ खट्टी दवा दिखानी पड़ती है इस लिये अज्ञानरोगग्रस्त लेखकों के दांत खट्टे हों तो वे मुझ पर कोप न करें क्यों कि यह मेरी प्रवृत्ति उन्हीं के हितके लिये है उन के चिरसंगी अज्ञानव्याधि का प्रतीकार ही मेरा उद्दिष्ट कार्य है, और यह उन्हीं का हित साधन है ।

फिर लेखक बयान करते हैं कि,

“ संस्कृतज्ञान के बिलकुल निरक्षर राजेन्द्रसूरि के नाम के पीछे उनके भक्त लोग क्या समझ करके—कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालसर्वज्ञ-कल्प ऐसे २ विशेषण लगाते हैं ” इत्यादि (९—१०) पंक्तियों तक अपनी बेसमझसे अपनी अज्ञता प्रगट करी है, लिखने खोदने वाले की तथा अपनी बेसमझ की भूल से राजेन्द्रसूरिजी को संस्कृतज्ञान के निरक्षर मानोगे तब तो दुनियाभर में सैकड़ों हजारों से अधिक प्रतिमायों के लेख में अनेक लिखने खोदने वाले की भूल देखने में आवेगी तो क्या उन सर्व प्रतिष्ठाकारक आचार्य उदाध्ययादि पूर्वाचार्यों संस्कृतज्ञान के निरक्षर कहे जायेंगे ? नहीं २ कदापि नहीं कहे जायेंगे । ”

जैन भिक्षु का कहना—कि राजेन्द्रसूरिजी संस्कृत ज्ञान के निरक्षर थे-यथार्थ ही है, भला तुम्हीं सोचो कि जिन राजेन्द्र-

सूरिजी के मामूली स्तुति-चैत्यवंदनादि में भी अशुद्धियों के ढेर के ढेर दिख पडते हैं वे निरक्षर नहीं तो क्या साक्षर कहे जायेंगे ? हां यह बात तो हम भी समझते हैं कि जब तक मनुष्य छद्मस्थ होता है कहीं गूढ विषय में भूल भी जाता है पर किस प्रकार ? सारे ग्रन्थ में एकाद जगह, इस से ज्यादा हो तो समझ लो कि उसकी विद्वत्ता में स्वामी जरूर है, तो जिन का विषय तो एक मामूली बातचीत है ऐसे चैत्यवंदनादि में भी बड़ी बड़ी अशुद्धियों की भरमार निरक्षरता विना कैसे हो सकती है ? । पाठक महोदय ! लेखकों के परम आचार्य (!) राजेन्द्रसूरिजी को-जिन के लिए लेखक महाशय झूठी वकालत करते हैं-संस्कृत का बोध कितना था इस विषय को प्रस्फुट करने के लिये उनके बनाये हुए कुछेक संस्कृत चैत्यवंदन-स्तुत्यादि के फिकरे यहां पर उद्धृत कर दिखाता हूं, आप उन्हें गौरसे पढ़ें, देखिये कैसा अशुद्धियों का खजाना है,-

“ अहं श्री आदिनाथो जगत् जनपतिः ज्ञानमूर्तिःचिदात्मा दैवेन्द्रा-
दिप्रपूज्यो विविधसुखकरो लोककर्ता च हर्ता । कर्माणां धर्मराजो मुनिगण-
मनसि स्थैर्यतां प्राप्तमानः, सो मे स्वामी संमीशो हरतु कलिमलं कोर-
टेस्थो जिनेशः ॥ १ ॥ ”

(जिनगुणमंजूषा-प्रथम भाग-पृष्ठ २)

“ द्वीपे त्र श्री मंधरे तन्नमामि युगंधरं बाहुजिनैः सुबाहुः । सं
धातकी खंड मितं सुजातं श्रेयप्रभं श्री वृषभाननं च ॥ १ ॥ अनंतवीर्यं
सुविशालनाथं सूरप्रभं वज्रधराभिधानं । चन्द्राननं नौमि च पुष्करार्द्धं
श्रीचन्द्रबाहुश्च भुजंगनाथम् ॥ २ ॥ नेमिप्रभं चेश्वरनामधेयं श्रीवीरसेनं
जिनदेवकीर्तिम् ॥ वन्दे महाभद्रमजीतवीर्यं निरंतरं संप्रति वर्तमानम् ॥ ३ ॥ ”

(जिनगुणमञ्जूषा-भाग १ पृष्ठ ७.)

“ उ०त्तंग चङ्गचित्रं नरवररचितं हेमसूरीसंबारे । जैनानां भक्तिकर्ता
धरमधुरधरो राजकौमारपालः । तेनेदं पूजनार्थं भवभयदमनं कारितं
श्रेष्ठचैत्यं श्रीमज्जालोरवप्रे प्रवरगुणवरे वीरचैत्यं च वंदे ॥ १ ॥
तं दृष्ट्वा भव्यलोका निजहृदि सततं हर्ष अत्यन्त सादे । निंघा जे कारका
ते पतति तमर्तमे वंदका मोक्षं याति । तेषां पापं च शीघ्रं भवभवचु-
णितं नश्यति क्षार सिद्धौ ॥ श्री० ॥ २ ॥ भो भव्या भद्रिकेयं समकित
करणी भाषिता श्री जिनेन्द्रः धार्यं त्यक्त्वा कदायं कुमतिभयंहरं त्रैशैल्यं
शमीशं सौख्यं दाता समग्रं भवतु भयंहरं सूरिराजेन्द्रवंधं ॥ श्री० ॥ ३ ॥

(जिनगुणमञ्जूषा-भाग १ पृष्ठ १४)

श्रीनाभेयं धर्माधारं सिद्धं स्फारं सन्तारं ज्ञानागारं ध्यानाधारं कीर्ति-
कारं भर्तारं ओं ह्रीं क्लीं ङ्लीं वर्णावासं भ्रांतिनाशं सन्यासं सम्यक् वंदे
तीर्थाधीशं पूज्यं सिद्धौ संवासं ॥ १ ॥ देवावासे ज्योतिश्चक्रे भौमावासे
हेमाद्रौ तिर्यग्लोके पैशाचादौ द्वीपादौ वा स्वन्यांद्रौ सुष्टुग्रामे क्रीडारामे
तीर्थस्थाने चैत्यानि वंदे तानि ज्ञानानंदं प्राप्यर्थेऽहं सर्वाणी ॥ २ ॥ अह-
न्वक्त्रे स्थानं चक्रे संविज्ञानां सग्रन्थे श्रद्धाशुद्धे तत्त्वे बुद्धे त्वार्ये कार्ये नि-
ग्रन्थे । सूरीशानां राजेन्द्राणां नित्यौ नित्यं तं वंदे सारं सूत्रं सिद्धिपुत्रं गं-
भीरार्थं स्वानंदे ॥ ३ ॥

(जिनगुणमञ्जूषा-भाग १ पृष्ठ २०)

“ जयति वीर ते वार्गुणामृतं हरति किल्बिषं क्लिष्टसंचितं । नमति
पत्कजं पाकशासनं भजति भक्तितः शुक्लपाक्षिकः ॥ १ ॥ जगति तेऽधिका
कीर्तिरुत्तमा रमति सा हृदि स्नेहिनां शुभा यशसि ते वपुः सुंदरं वरं

हरति तामसं दुष्टमानिनाम् ॥ २ ॥ जनक हे तवैवाहमर्भको दंदतु मे
अर्तः ज्ञानसंपदां । शुभदशा मुखं वीक्षं मां विभो मुदुःखिनं सदा कातरा-
बलं ॥ ४ ॥ ”

(जिनगुणमंजूषा-भाग १ पृष्ठ १७)

“ वंदामि वीरं मनसा संधीरं सिद्धं समृद्धं सुखैदं उमीरं ॥ देवा-
धिंदवं सुरराजवद्यं भवाब्धियानं शिवंदं अनिद्यं ॥ १ ॥ चौवीस के-
वलधरा वरतीर्थनाथा आगामि कालि गर्तकालि तथा च सिद्धा वर्तन्ति
विंशति विदेहविशालपन्थाः चैत्यानि तीर्थसंसं संति नमामि तेषां । सूत्रं
गच्छेन्द्रसूतं शुभं अर्थयुतं साधुवर्गैर्गृहीतं जीवा जीवादि तत्त्वैः चतुर-
तरगमैर्दुर्लभं यस्य तंत्रं बौर्धादीनां निरांशं शिवसुरमुखदं शुद्धवैराग्य
दीपं भक्त्या वन्दे धनमुनि जगमं सूत्र आज्ञा चलन्ति ॥ ३ ॥ ”

(जिनगुणमंजूषा-भाग १ पृष्ठ २९)

“ अंगोवांगं सुचंगं जिनवरकथितं गच्छराजैः सुगुणं पंचांगी रंग
युक्तं सकलनयमयं चारनिक्षेपपुष्पं सुद्धाचारं सुगंधं मुनिहृदयधरं ईदृशं
सूत्रहारं सिद्धं वंदे प्रमोदप्रसमर्थरुचिना सर्वविश्वस्य सारं ॥ ३ ॥ ”

(जिनगुणमंजूषा-भाग १ पृष्ठ ३५)

पाठक महोदय ! राजेन्द्रसूरिजी की अलौकिक विद्वत्ता !
आप समझ सकते हैं कि जैनभिक्षु ने राजेन्द्रसूरिजी को संस्कृत
के निरक्षर लिखा सो झूठ नहीं है, ऊपर लिखे हुए संस्कृत श्लोक
विगैरह त्रैस्तुतिकों के कालिकालसर्वज्ञ राजेन्द्रसूरिजी की कृति
के हैं, श्लोकों के ऊपर लिखे हुए अंक क्या हैं समझे ? वे हैं
अशुद्धियों के नंबर । वाहरे अंधभक्तो ! तुमने एक अतिसाधारण
मनुष्य को-जिस के बनाए हुए ऊपर लिखित मात्र गिनती के

श्लोकों में १०० एक सौ अशुद्धियां प्रत्यक्ष दिख रही हैं—कलिकालसर्वज्ञकल्प, कलिकालसिद्धान्तशिरोमणि विगैरह अनेक उपाधियों की शिलाओं से क्यों दबा दिया ? इस भार से उसका हाडपिंजर चूरा हो जायगा इस बात को सोचने वाला तुम्हारे में कोई भी विद्यमान नहीं है ? अफसोस ! इसी अंधश्रद्धा और मूर्खता ने मनुष्य को उन्नति के मार्ग से भ्रष्ट कर दिया है, जब कोई तरकी के मार्ग में पैर रखता है तो उस के अंधश्रद्धालु भक्त झूठी वाह वाह से उसे इस प्रकार बड़ाई के शिखर पर चढ़ा देते हैं कि फिर वह तरकी के शिखर पर पहुंचने की जरूरत ही नहीं समझता ।

राजेन्द्रमुरिजी एक सामान्य आदमी थे उन्हें व्याकरण का ज्ञान बहुत ही कम था, साहित्यविषयक ग्रन्थ तो उन्होंने ने बांचा ही शायद ही होगा, न्याय का ज्ञान तो उन से कोशों दूर था, जैन सिद्धान्त का भी उन्हें प्रशस्त बोध नहीं था, इन सब बातों का पता उन की अशुद्धियों से भरी हुई कृतियों से अच्छी तरह लग-जाता है, मैंने ऊपर जो अशुद्धिपूर्ण राजेन्द्रमुरिजी के चैत्य वंदन—स्तुत्यादि लिखे हैं वही उन के परमसंस्कृत ग्रंथ हैं जो जो राजेन्द्रमुरिजी के बनाये हुए स्तोत्रादि हैं बस इसी नमूने के समझिये बल्के इस से भी ज्यादा अशुद्ध ! आज तक इन का रचा हुआ एक भी स्तोत्र—चैत्यवन्दन ऐसा नहीं देखा कि जिस में ८-१० अशुद्धियां न हों, 'जैनभिक्षु' का 'एक साधारण लेख लिखने में जिसने इतनी भूलें की हैं वे क्या कभी कोष बनाने की योग्यता रख सकते हैं' यह लिखना अक्षरशः सत्य है, जिन में दो चार श्लोक बनाने की भी पूरी योग्यता नहीं पाई जाती

वे किस योग्यता से कोष बना सकते हैं। यहां पर पाठकगण को यह शंका हो सकती है कि जब राजेन्द्रसूरिजी की विद्वत्ता का यह हाल है तो वह कोष किसने बनाया जो 'अभिधानराजेन्द्र' इस नाम से बोला जाता है? तो उत्तर यह है कि वह कोष राजेन्द्रसूरिजी ने अपने नाम से ब्राह्मणों के द्वारा तय्यार करवाया है-उन्होंने खुद ने नहीं बनाया। यह बात कल्पित नहीं की संवत् १९३३ की साल से कोष की रचना होने लगी थी। कार्य ब्राह्मणों के हाथों से होता जाता था। बनाने वाले पंडितों की तनख्वाह और पुस्तकों आदि का प्रबन्ध राजेन्द्रसूरिजी कराया करते थे, यह बात उनके घर के भेदू विश्वस्त आदमी के मुंह की है। दूसरा यह भी प्रामाणिक कारण है कि--जब हमारा विहार काठियावाड़ से मारवाड़ की तरफ हुआ--राजकोट की तरफ से हमारा आना वढवान केम्प हुआ; वहां पर खरतरगच्छीय मुनि श्रीकृपाचन्द्र जी से मुलाकात हुई, दो रोज वहां पर ठहरना भी हुआ, दरमियान मेरे और महाराज श्रीकृपाचन्द्रजी के परस्पर त्रैस्तुतिकों के बारे में इस प्रकार वार्तालाप हुआ.

श्रीकृपाचंद्रजी—'अभिधान राजेन्द्र' कोष छप गया ?

मैं—'सुना गया है कि द्वितीय भाग छप कर तय्यार हो गया है।

श्रीकृ०—'इस में बहुत ही खर्च हुआ है'

मैं—'हां हुआ तो ऐसा ही है, पर आप को इस बात की जांच कैसे हुई ?'

श्रीकृ०—'संवत् १९५८ की साल में गांव सियाणे में राजेन्द्रसूरिजी से हमारा मिलना हुआ तब मैं ने उन से

पूछा कि ' कोष कहां तक बना है ? ' उत्तर मिला कि ' प-वर्ग ' चलता है । फिर पूछा कि ' बनाने का काम कहां चलता है ' तब राजेन्द्रसूरिने कहा ' काशीजी में ' मैं-आप भी राजेन्द्रसूरिजी की गूढ़ बातें तो ठीक जानते हैं जैसे कि उन का कोई घर का मनुष्य जाने ।

श्री कृ०-हम से राजेन्द्रसूरि कोई भी बात छिपाते नहीं थे । इस प्रकार जब श्रीकृपाचन्द्रजी के मुख से सुना तो मुझे इस हकीकत पर पूरा विश्वास बैठ गया कि अभिधानराजेन्द्र-कोष ब्राह्मणों से ही राजेन्द्रसूरिजी ने तय्यार कराया है ।

खास राजेन्द्रसूरिजी के भक्त श्रावकों के मुख से कई दफे सुना है कि इस कोष के निमित्त रु. २०००००) दो लाख के करीब खर्च हो चुके हैं तो अब विचार करने योग्य स्थल है कि इतने रुपये कहां ? खास निर्णयसागरयंत्रालय सरीखे छापाखाने में पांच सौ नकल छपवाने से रु. १) में ४ चार हजार के लगभग श्लोक छपते हैं, इस हिसाब से रु. २५०००) में १००००० श्लोकप्रमाण ग्रन्थ की ५०० कापियां तो निर्णय-सागर प्रेस में छप सकती हैं तो दूसरे सामान्ययंत्रालय में रु. १५०००) में उस ग्रन्थ की पांच सौ नकल छपे इस में शंका ही क्या है ? इन सब संयोगों से साफ साफ यह सिद्ध है कि ये सब रुपये इस कोष के बनाने और सुधारने वाले पण्डितों के पगार में खर्च हुए हैं छपवाने में तो इनका छटा या आठवा हिस्सा ही काफी है ।

राजेन्द्रसूरिजी के श्रद्धान्ध भक्त लोग-जिन के आगे ' काला अक्षर भेंस बराबर ' है-इस कोष के भागों की बाह्य स्थूलता को देख

कर फूले नहीं समाते और बोलने लगते हैं कि 'ओ हो ! राजेन्द्रसूरिजी बापजी कतरो मोटो गरंथ बणायो है' पर उन बेचारे भोले भाले मारवाडियों का इसमें क्या दोष ! उन को तो उपदेश ही इस प्रकार का मिलता है कि ' राजेन्द्रसूरिजी ने पैतालीस आगमों की पंचांगी का सार लेकर राजेन्द्रकोष बनाया है' इस बातको वे बेचारे अज्ञानी गृहस्थ लोग क्या जानें कि ४५ आगमों की पंचांगी का तो नहीं परंतु ' वाचस्पत्य-वृद्धिधान ' जो कलकत्ता के वैष्णव पंडित ' तारानाथ तर्कवाचस्पति ' का बनाया हुआ है उस का सार लेकर इस को ब्राह्मण पंडितों ने बनाया है । खैर इस विषयका प्रकाश अब बहुत हो गया एक साथ सारी पोल खोलने से लेखकों को सब न होगी, फिर आगे किसी प्रकरण में अवशिष्ट भाग की भी चर्चा की जायगी ।

आगे लेखकजी ने हीरविजयसूरिजी का लिखा हुआ पंन्यासपदयोग्यताविषयक पट्टा लिख के यति कल्याणविजयजी और प्रमोदविजयजी को सूरि बनाने की चेष्टा की है, लेखकों से मेरा यह प्रश्न है कि आपके राजेन्द्रसूरिजी के दादागुरुजी और गुरुजी ने हीरविजयसूरिजी के पट्टे में लिखे मुजिब अभ्यास किया था ? और षण्मासिक भगवती का योगोद्धहन करके गणि पद प्राप्त किया था ?, या—

“ सचित्त (कच्चा) अग्निं जलं अंगना (स्त्री) और नवविध परिग्रह इन को इन्द्रिय सुखादिक के हेतु आचार्य अपने अंगस्पर्श न करें अपनी नेश्रा (आश्रय) में न रखे तब तो यह सूरिपद भावाचार्य का रक्षक है, और पूर्वोक्त [४] चीजों से शिथिल (परिभोगी) होय, वे द्रव्याचार्य नामाचार्य कहलाते हैं. अर्थात् वे (सूरिमंत्र) सूरिपद के योग्य नहीं हैं ”

इस आप के ही लेख में कही हुई ४ चीजों के वे त्यागी थे कि भोगी ? । आप ही के इस कथनानुसार वे सूत्रिपद के योग्य सिद्ध हो सकते हैं या नहीं इस का प्रमाण के साथ उत्तर दें ।

तात्पर्य यह है कि कल्याणविजयजी और प्रमोदविजयजी सामान्य यति थे, वे न तो विद्यावान् थे और न क्रियावान्, उन के वही हाल थे जो आज कल के द्रव्योपासक यतियों के हैं, हां यह उन में शायद विशेषता होगी कि रूप्यों के लिए विवाहादि सांसारिक उत्सवों में वे रोते न फिरते होंगे, परंतु उन में साधुवृत्ति थी यह तो कोई भी असत्यभीरु नहीं कहेगा और विचार शील मानेगा । साधुवृत्ति कहां ?, साधुओं में तो मूल और उत्तर गुणों की सत्ता चाहिये, कदाचित् कारणवश किसी उत्तरगुण में खलना हो जाय तो भी उस की प्रायश्चित्तादिद्वारा जल्दी शुद्धि कर ली जाती है, और उस के मूलगुण तो सर्वदा अखंडित ही रहते हैं । कोई भी भवभीरु ऐसा नितान्त झूठ बोलने का साहस नहीं करेगा कि यति कल्याणविजयजी और प्रमोदविजयजी में इस मुजब साधुपन के गुण थे । वे त्रस थावर के प्राणातिपात को टालते नहीं थे, झूठ नहीं बोलने का तनिक भी व्रत वे पाल नहीं सकते थे, अदत्तादान की विरति से वे कोशों दूर बसते थे, मैथुनविरमण का भी बुरा हाल था, हां, यह बात मान सकते हैं कि जिस प्रकार गृहस्थों का निःशंक व्यवहार होता है उस मुजब इन के यहां न होता होगा, और परिग्रह की तो बात ही क्या; इस से तो उन के सब काम ही सिद्ध होते थे, इस का त्याग तो उन्हें प्राणत्याग तुल्य था ! ।

लेखक जी ! यही यतिजी आप के राजेन्द्रसूरिजी के दादा गुरु और गुरु थे न ? । इन्हीं को आप आचार्य बनाने की चेष्टा करते हैं न ? । अच्छा ! पर यह तो कहो कि त्रिस्तुतिका मत निकालने के बाद आप के राजेन्द्रसूरिजी का नामोच्चारण भी प्रमोदविजयजी ने अपने मुख से किया था ? । वे तो यों कहते थे कि ' मेरा शिष्य कुशिष्य हो गया ' इस मुजब कहने में कारण दो थे, एक तो यह कि वे साधुपन नहीं पाल सकते थे तो भी सनातनजिनमार्ग के पूरे पक्षपाती थे । दूसरा यह कि मोहनविजय नाम का उन का शिष्य जो बच्चपन से ही पाल कर मोटा किया था उसे फुसला कर रत्नविजयजी (राजेन्द्रसूरिजी) ने ले लिया था । बस इन्हीं दो कारणों से प्रमोदविजयजी आप के राजेन्द्रसूरिजी से पूरी घृणा करते थे, यहां तक कि उन का नाम तक अपने मुंहपै नहीं लाते थे । इतना होने पर भी क्या कारण कि लेखक और इन के अनुयायी लोग प्रमोदविजयजी को जबरदस्ती से आचार्य बना रहे हैं ? ।

लेखकों ने अपने राजेन्द्रसूरिजी की पाट परंपरा के लिये जो विस्तार सहित पराल लिखा है वह कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं है, उस में लेखकों के बड़े गुरु की गप्पगीता का ही मात्र श्रवण है, जैसे—

“ (पं) अमुकविजयजी गणी, अमुकस्तक, याने पं. प्रमोद-विजय गणी कल्याणस्तक ऐसा (१) रत्नाधिक का बोलना लिखना होता है ”

पाठक महोदय ! देख लीजिये गप्पगीता का नमूना 'स्तक' इत्यादि अशुद्ध शब्द ही इन के इस कथन को गप्पगीता सिद्ध करते हैं या नहीं ? ।

फिर लेखक जी अपनी झूठी करतूत दिखाते हैं कि—

“ इत्यादि उनकी (प्रमोदविजयजी की) यति (साधु) की प्रवर्तना हमारे वर्तमानाचार्य ‘ श्रीविजयधनचंद्र सूरिजी ’ ने आंखों से देखी हुई सब श्वेताम्बर संघ में प्रसिद्ध है. तिन के पाटपर ‘ इग, बी, ती, गुरुपरंपर कुशीले ’ अर्थात् श्रीमहानिशीथोक्त सिद्धान्त वचन से एक दो पाट परंपरा का कुशील को त्याग के क्रियोद्धार रूप ‘ श्री जिन शासन के प्रभाव के करने वाले यह प्रभावकाचार्य श्रीविजयराजेन्द्र-सूरिजी हुये ! ”

मैंने पहले ही यह कह दिया है कि प्रमोदविजयजी की प्रवर्तना साधुपन की नहीं थी किंतु पतित थी, मैं क्या तुम खुद ‘ एक दो पाट परंपरा का कुशील को त्याग के ’ इन वचनों से सिद्ध करते हो कि ‘ यति कल्याणविजयजी और प्रमोदविजयजी में कुशीलपन था इस लिये उसको त्याग के राजेन्द्रसूरिजी ने क्रियोद्धार किया, ’ इस प्रकार जिन को लेखक कुशील मानते हैं उन्हीं को राजेन्द्रसूरिजी के पाट परंपरा के आचार्य मानना ? कुशील को आचार्य ठहराने वाले खुद ही कुशील क्यों न माने जायँ ? ।

लेखक जी ! कुशीलियों को आचार्य मानने वाले आप लोगों की बुद्धि किस पाताल में चली गई है ? कुछ तो सोचो ! जिन को अपने मुख से कुशीलधारी कह रहे हो उन्हीं को आचार्य कहते हुए तुम को असत्य का डर तो नहीं, पर लज्जा भी नहीं ? । अफसोस ! यही असत्यपोषण—यही अंधश्रद्धा जैनों को उन्नति के शिखर से गिरा रही है ! ।

पाठकगण ! प्रमोदविजयजी की क्या स्थिति थी वे साधु-

ता से कितने दूर थे इस बात का निर्णय तो आप लोग अब भी आहोर के वृद्ध मनुष्यों को जो उन के समकालक या उनकी प्रवर्तना के देखने वाले हैं—पूछ के कर सकते हैं, पर लेखकजी ! आप के वर्तमानाचार्य जी की देखी भाली बातको तो कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य नहीं मानेगा, क्यों कि आप के वर्तमानाचार्य जी की करतूतों से सब कोई वाक्फि है। मेरी समझ में तो ऐसे जाली आदमी जगत में विरले ही होंगे।

लेखक जी ! वे ही आप के वर्तमानाचार्य जी हैं न ? जिन्होंने राजेन्द्रसूरिजी के गुरुपद को मन वचन और काया से त्याग दिया था। प्रियपाठक ! देख लीजिये लेखकों के वर्तमानाचार्य जी की करतूत, अब जो राजेन्द्रसूरिजी और उन के गुरु—यति प्रमोदविजयजी को आचार्य सिद्धकरने की कौशिश कर रहे हैं उन्हीं धनविजयजी ने राजेन्द्रसूरिजी के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया था; यह बात भी जानने योग्य है, अत एव इस विषय को उन्हीं के पुस्तकों के कुछ फिकरों से विशद किया चाहता हूँ, आशा है मेरे इस विचार को आप अस्थान न गिनेंगे।

“ जब तक श्रीविजयराजेन्द्रसूरिजी के और मेरे जैन सूत्रों की श्रद्धा प्ररूपणा में भेद नहीं था तब तक तो मेरे दीक्षोपसंपद (क्रियोद्धार) गुरु शिर के मुगट समान थे और अब सूर्योदय लिखने लिखाने वाले के लेख देखते श्रुत स्थिविर (पूर्वधर) तथा बहुश्रुतो के किये जैनसूत्रों की उत्थापक बुद्धि राजेन्द्रसूरिजी की ज्ञात होने से जब तक यह उत्थापक बुद्धि रहेगी तब तक त्रिविध मन वचन काया से तिन्का गुरु पद को वोसराता हूँ और विद्यमान जंगमजुगप्रधान श्री विजयसूरि-राजेन्द्र जी महाराज का गुरु पद को खिकार करता हूँ ”

(धनवि० कृत-देववन्दननिर्णयपताका-प्रस्ताव ४ पृष्ठ ३९)

“ अपने मनमानी कल्पना की समाचारी करने वाले एकांत हठ-ग्राही सूरिजी को + + + ”

“ सूरिजी तो अपनी मनकल्पना का हठ के जोर से (सम्मद्दिष्टी देवा) का एकांत निर्वच पाठ कों एकांत सावद्य ठहरा के इस पाठ का उत्थापन कर के ओर चोथी थुइ का सर्वथा उत्थापन कर पूर्वधर तथा बहुश्रुतो की पंचांगी आद्य ले अनेक ग्रन्थों का पाठ उत्थापन करते अनेक पूर्वधर तथा पूर्वबहुश्रुतो की आशातना करने में रक्त हो रहे है ”

(धनवि० देव० नि० प० प्रस्ताव ४ पृष्ठ ५-६)

“ वंदिता सूत्र का पाठ उत्थापन कर यह भव पर भव विगाड कर वृथा संसार वधारने की क्यों उमेद रखते हो ? ”

(धनवि० देव० नि० प० प्रस्ताव ४ पृष्ठ १५)

पाठकट्टंद ! ऊपर दिये हुए फिकरे लेखकों के वर्तमानाचार्य धनविजयजी रचित ' वेदवन्दननिर्णयपताका ' नामवाली किताब के हैं, धनविजयजी का अपने गुरु राजेन्द्रसूरिजी के साथ कैसा वर्ताव था इस बात का पता इन फिकरों से अच्छी तरह लग जाता है, इस वक्त राजेन्द्रसूरिजी के पटधर होने का दावा करने वाले धनविजयजी ने पहले राजेन्द्रसूरिजी के ऊपर कैसे कठोर वाग्वाण बरसाये हैं इस गूढ बात को प्रकाशित करने के लिये उपर्युक्त फिकरे दीपक तुल्य हैं, त्रैस्तुतिकों के भीतर ही कितनी फाटफूट है इस बात के भी पूर्वलिखित फिकरे साक्षी समझने चाहिये ।

पाठक ! तीनथुई वालों के घर में कितनी पोल है यह बात अब तो आपकी समझ में आ ही गई होगी, इन लोगों की यह

स्थिति तो पहले की है पर आज कल की दशा तो इस से भी बुरी हालत में है, वर्तमान में राजेन्द्रमूरिजी का जो क्षुद्रपरिवार है उस के भी दो दल हो चुके हैं. क्रियाविषयक भी बखेडा कम नहीं है, गच्छ बाहर करने कराने की भी परस्पर में तैयारियां हो रही हैं, इन सब का कारण और कुछ नहीं सिर्फ भीतरी पोल है, कितनेक धनविजयजी का कथन शास्त्रप्रमाणयुक्त मानते हैं तब दूसरे राजेन्द्रमूरिजी की क्रिया को ही सर्वज्ञभाषित समझते हैं, इस का नतीजा यह आया कि अकाल ही त्रैस्तुतिकों के घर में यादवा स्थली मच गई ।

इस मत वालों की थोड़े ही काल में यह दशा क्यों हुई ? इस बात को समझना अब कुछ कठिन नहीं है, आप सोच सकते हैं कि नापायेदार इमारत ज्यादा वक्त तक नहीं टिक सकती, जिस मत का जन्म ही शास्त्रनिरपेक्ष-राग द्वेष से हुआ है, जिस के जन्मदाता राजेन्द्रमूरिजी आप ही अव्यवस्थित चित्त थे उस निर्बल मत को ग्रहण करने वालों की यह दशा होवे इस में आश्चर्य ही क्या है ? । आप निश्चय समझिये कि दुर्दशा तो क्या थोड़े ही वर्षों में इस की परिसमाप्ति की कथा भी शायद आप सुन लेंगे ।

लेखक जी ! मेरा यह कथन यदि असत्य हो तो मुझे कह दीजिये, आप के वर्तमानाचार्यजी की कपट-पटुता, प्रपंच जाल और असत्य वादिता मेरे कहने से भी दो कला अधिक है या नहीं ? । इस का उत्तर ' हां ' सिवा किसी अक्षर से आप नहीं दे सकोगे ।

जब आप के वर्तमानाचार्य जी की भी यह दशा है तो ऐसा कौन हृदयशून्य होगा जो उन के कथन पर विश्वास धरेगा !;

और जब प्रमोदविजयजी को ही पाट की प्राप्ति नहीं हुई तो उन के शिष्य राजेन्द्रसूरिजी को उस की आशा ही क्यों रखनी चाहिये !
फिर लेखक जी का वयान है कि—

“ जैनभिक्षुजी की गुरु परंपरा में तो एलियाम्बर, काथियाम्बर, पीताम्बर, कुलिगवस्त्र धारण करने की आज्ञा न तो कोई आचार्य ने दी है ! और न कोई लिंग (वस्त्र) बदलानेवाला आज दिनों तक आचार्य हुये हैं ! तो भी वर्तमान में आचार्य गुरू के दिये बिना अपने २ रागी गृहस्थों के पास आचार्य (सूरि) पद घर घर में धारण कर रहे हैं तो यह कल्पित पाट परंपरा से जुड़ी ! जैन शास्त्रों के न्याय से और कल्पित पाट परंपरा कौनसी कही जायगी ! अपितु ! यह पीताम्बर (पीलावस्त्र) धारियों की ही कल्पित परंपरा कही जायगी. ”

लेखकों ने कब देखा कि जैनभिक्षुजी की गुरु परंपरा में एलियाम्बर या कुलिग वस्त्र धारण किये जाते हैं ? । यदि कत्थे आदि पदार्थों से विवर्ण किये हुए वस्त्रों को भी लेखक कुलिग समझते हों तो यह आप गंभीर भूल करते हैं, निशीथचूर्णि के प्रमाण के साथ पहले सिद्ध कर चुका हूँ कि नये वस्त्रों का वर्ण बदलना शास्त्र-खिलाफ नहीं बल्के शास्त्रप्रतिपादित-विधिविषय है, लेखकमहोदय उस स्थल को ध्यान के साथ फिर एक दफे पढ़ लें ।

लेखकों का यह कथन भी असत्य है कि ' न कोई लिंग (वस्त्र) बदलाने वाला आज दिनों तक आचार्य हुये है ' जब सूत्रकारों ने यह सिद्धान्त कर दिया कि ' श्वेतमानोपेत-जीर्ण-प्राय वस्त्र साधुओं का अकारणिक वेश है तथापि इस प्रकार के वस्त्रों की अप्राप्ति में नये वस्त्रों का वर्ण बदल के उन्हें उपभोग

में लाना भी दूषित नहीं, तो लेखकों की क्या शक्ति जो इस को अप्रमाण कर दें ? ।

‘आचार्य गुरु के दिये बिना अपने २ रागी गृहस्थों के पास आचार्य (सूरि) पद घर घर में धारण कर रहे हैं ।’

यह लिखना तो लेखकजी के आचार्यों के ही शिर सवार होता है, क्यों कि आप के गुरु और दादागुरु इसी प्रकार आचार्य बने थे, अथवा इस से भी हीनरीति से, क्यों कि ‘राजेन्द्रसूरिजी’ तपागच्छ के श्रीपूज्य ‘श्रीधरणेन्द्रसूरिजी’ की चपेटा देवी के प्रसाद से स्वयं आचार्य (श्रीपूज्य) बन बैठे थे, किसी भी आचार्य गुरु ने उन्हें आचार्यपद नहीं दिया, और धनविजयजी भी अपने ही मुखसे ‘धनचंद्रसूरि’ बन बैठे। क्यों कि इन के गुरु ने तो कभी से इन्हें अपने गच्छ से दूर कर दिया था तो आचार्यपद की तो बात ही कहां ? । सं. १९६२ में जब राजेन्द्रसूरिजी का देहांत हो गया तो १९६४ की साल में आपने मालवे में जा कर अपने रागी गृहस्थों से आचार्यपद धारण किया। लेखक जी ! ‘अपने रागी गृहस्थों के पास आचार्यपद घर घर में धारण कर रहे हैं’ यह आप का कथन आप के ही गुर्वादिकोंने चरितार्थ किया या नहीं ? ।

फिर लेखक लिखते हैं कि—

“जैनभिक्षुजी को तथा जैनभिक्षुजी के पक्षियों को चाहिये कि अपने अंध गुरु की अंध श्रद्धा तथा कल्पित परम्परा छोड के अभी वर्तमान में देश, काल, अनुमान प्रमाणे संयम (चारित्र) को धारण वाले कोई श्वेताम्बराचार्य भावाचार्य जी का गुरु पद धारण कर पीछे बड़ी दीक्षा योग वहनादि किया करके आचार्य उपाध्याय प्रवर्तक स्थविर रत्नाधिक

पदवियां धारण कर श्वेताम्बराचार्य गुरु के हुकुम में वर्तो तब ही जैन शास्त्रों के न्याय से साधु आदि आचार्य सूरिपद धारी श्रीवीरपरंपरा के कहे जाओगें नहीं तो मनोमतिकल्पित पाट परंपरा के ही कहे जाओगें इस में शक नहीं ।”

यहां पर जैनभिक्षु लेखकों को यों कहेगा कि इस मुजब तुम को ही वर्तना जरूरी है, क्योंकि जैनभिक्षु के तो गुरु अंधे नहीं हैं और न उस की परंपरा कल्पित है, अंध-बन्ध और कल्पित-बलिपत सब आप के ही सुपुर्द है इन को स्थान देने की कीर्ति आप ही को प्रिय हो । पर मेरी राय है कि आप को भी इन को आश्रय देना सभ्यताविरुद्ध है इस लिये आप को चाहिये कि भावान्ध्यव्याप्त अपने गुरु की अंध श्रद्धा और कल्पित परंपरा के पीछे जल्दी जलांजलि दे कर द्रव्य क्षेत्र काल और भाव पर लक्ष्य रख कर के चलने वाले किसी जैना-चार्य या मुनि की शरण में जाओ ! ता कि आप की श्रद्धा-नाँका भवसमुद्र में डूबती अटक जाय और सकुशल आप को पार कर दे ।

फिर लेखक महाशय अपनी अह्म दौड़ाते हैं कि—

“ भावस्तव जो श्री महानिशीथोक्त साधुओं को चरित्रानुष्ठान और श्रावकों को सामायिक सहित पौषध प्रतिक्रमण में निरंतर तीन थुई के देववंदन तथा (द्रव्यस्तव) जो साधुओं को प्रतिष्ठा, शांतिस्नात्रादिक के अवसर वासक्षपादिक और श्रावकों को प्रतिष्ठा शांतिस्नात्र और निरंतर निवृत्तिगामिनी पूजा जो अष्ट द्रव्यादिक के अवसर श्री व्यक्हारभाष्यादि, जैनपंचांगी सूत्रोक्त तीन थुई की तथा चार थुई की देववंदना श्री तीर्थकरगणधरादिक से आज

तक चली आती है तिसमें संवत् (१२५०) में श्री सौधर्मसिद्धान्तिक-गच्छ में से आगमिक मतोत्पत्ति के करने वाले श्री शीलभद्राचार्य हुये तिन्हों ने सर्वथा चौथी थुई उत्थाप के एकान्त तीन थुई के देववंदन स्थापन किये तो ' तीन थुई का एक नया ही शास्त्रविरुद्ध मजहब राजेन्द्रिसूरिजी ने ही निकाला है यह लेख छपवा के जैनभिक्षुजी ने दही के बदले कपास भक्षण किया है ! क्यों कि राजेन्द्रिसूरिजी तो सामायिक सहित प्रतिक्रमण पोसहादिक भावपूजा जो भावस्तव चारित्रानुष्ठान में तीन थुई के देववंदन करते कराते थे और द्रव्य पूजा जो (द्रव्यस्तव) द्रव्यानुष्ठान में चार थुई के देववंदन करते कराते थे तैसे ही उन के पूर्वाचार्य श्री प्रमोदसूरिजी तथा श्रीकल्याणसूरिजी प्रमुखों भी तीन थुई तथा चार थुई के दोनों देववंदन अपने २ अवसर पे करते कराते थे ”

मैं नहीं समझ सकता कि तीनथुई वालों को झूठ पर इतनी प्रीति क्यों है ? वे बात बात में ऐसी डींग क्यों मार देते है ? क्या इसी में उन्हों ने धर्म मान लिया है ? क्या वे यही समझते हैं कि इस प्रकार असत्य का आश्रय लेने ही से हमारा मत चलेगा ? , नहीं, यह कदापि नहीं हो सकता, जलपोष्य वृक्ष कभी अग्नि से भी नवपल्लव हो सकता है ? जिस का मूल ही सत्य है वह धार्मिक मत असत्य से कब टिक सकता है ! उलगा उस से तो उसका सत्यानाश हो जायगा ! ।

लेखक जी ने महानिशीथ का नाम तो लिख दिया पर इस से यह सिद्ध कर सकते हैं कि ' सामायिकसहित पौषध प्रतिक्रमण में निरंतर तीन थुई के देव वंदन करना ? ' क्यों कि उस में तो चैत्यवंदन के सूत्रों के उपधान का विधि लिखा है, स्तुति का नाम मात्र भी नहीं ।

लेखक जगह जगह उल्लेख करते हैं कि ' सामायिकसहित पौषध प्रतिक्रमण में तीन थुई का देववंदन करना '

मैं पूछता हूँ कि क्या सामायिक रहित भी पौषध प्रतिक्रमण होता है कि जिस में देववंदनक्रिया की जरूरत रहती हो ? लेखकजी किसी भी शास्त्र का यह प्रमाण दे सकते हैं कि ' सामायिक विना भी चतुर्विधपौषध या षडावश्यकतात्मक प्रतिक्रमण हो सकता है ? '

सुनते हैं, लेखकजी के गुरु-धनविजय जी भी कई लोगों के आगे इसी प्रकार से उत्सृत्र प्ररूपणा करते हैं कि ' सामायिक विना भी प्रतिक्रमण हो सकता है, ' बड़ा आश्चर्य है कि उन्होंने ने यह सिद्धान्त लाया कहां से ?, शास्त्र तो साफ साफ कहता है कि सामायिक विना प्रतिक्रमण ही नहीं सकता. देखिये संदेह-दोलावलि की गाथा ४१ वीं की टीका का -

“ सामायिकाविनाभावित्वात्प्रतिक्रमणस्य प्रतिक्रमणे कथिते सामायिकमागतमेव । ”

यह पाठ, इस का अर्थ यह है कि ' सामायिक विना प्रतिक्रमण नहीं हो सकता, इस लिये प्रतिक्रमण के कहने से सामायिक आ ही गया '

तपागच्छैकमंडन आचार्य ' श्रीपद्देवेन्द्रसूरिजी ' कृत श्राद्ध प्रतिक्रमणवृत्ति (वन्दारुवृत्ति) में भी ऐसे ही कहा है, यथा -

“ प्रतिक्रमणं च कृतसामायिकेनैव कर्तव्यम् ”

अर्थ,—सामायिक ले के ही प्रतिक्रमण करना चाहिये ।

जब शास्त्र इस प्रकार पुकार रहे हैं कि सामायिक विना प्र-

तिक्रमण नहीं हो सकता तो फिर लेखकों और उन के गुरु जी का ' सामायिक विना भी प्रतिक्रमण होता है ' यह कथन उन के अंधभक्तों के सिवा ओर कौन मानेगा ? ।

तीनथुई मतावलंबी साधु और उन के अनुयायी लोग भोले लोगों को यों समझा देते हैं कि—

' चौथी थुई तो पूजा प्रतिष्ठादि विशिष्ट कारण के लिये है, सामायिक प्रतिक्रमण विगैरह में तो तीन थुई करना ही शास्त्रों में कहा है '

भोले लोगों को धोका देने वाले उन त्रैस्तुतिक महाशयों को मैं प्रतिज्ञा के साथ कहता हूँ कि—

' चौथी स्तुति पूजा प्रतिष्ठा में ही कहने के लिये है प्रतिक्रमण में नहीं. '

ऐसा किसी भी चतुर्थस्तुतिप्रतिपादक शास्त्र का प्रमाण तुम्हारे पास हो तो पेश करो मैं उस मुजब बर्तने को तय्यार हूँ अगर तुम ऐसा प्रमाण नहीं बता सकते हो तो इस बात को कबूल करो कि—

' यदि मैं शास्त्र का ऐसा प्रमाण बता दूँ कि सामायिक प्रतिक्रमण में भी चौथी थुई कहनी चाहिये तो तुमको चौथी थुई करनी पड़ेगी '

यदि इन दो पक्षों में से एक भी तुम नहीं स्वीकारोगे तो मैं और सब पाठक महाशय यही समझेंगे कि तुम्हारे इस नवीन मत में ढोल के जितनी पोल है ।

कई अज्ञान के उपासक त्रैस्तुतिक तो यों भी डींग मार देते हैं कि

‘ चौथी थुई करना कालकाचार्य जी ने शुरू किया ’

मेरा उन भोले भाले लोगों से यह प्रश्न है कि आप को ऐसा स्वप्न आया कि ‘ चौथी थुई कालकाचार्य जी ने की ? या किसी निरक्षर की हां में हां करते हो ? तुम्हारी अकू घर पर है या नहीं ? जरा अंधकार से दूर हो के शास्त्र के पन्ने खोलो ! कालकाचार्य जी ने चौथ की संवत्सरी की है या चौथी थुई ? ।

वाह रे अज्ञान ! तेरा प्रभाव भी अपूर्व है विना ही तकलीफ मनुष्य को अन्धा बनाने वाली तेरी इस लीला की क्या तारीफ की जाय ! ।

लेखक कहते हैं कि—

‘ संवत् (१२५०) में श्रीसौधर्मसिद्धान्तिक गच्छ में से आगमिकमतोत्पत्तिके करने वाले श्री शीलभद्राचार्य हुये तिन्होंने सर्वथा चौथी थुई उत्थापके एकांत तीन थुई के देववंदन स्थापन किये ’

सरासर असत्य है, आगमिकमतोत्पत्ति के करने वाले आचार्य का नाम ‘ शीलभद्र ’ नहीं था किंतु ‘ शीलगण ’ था, और उन ने सौधर्मसिद्धान्तिक गच्छ में से यह मत नहीं निकाला, वे पहले पौर्णमीयक गच्छ में थे बाद उस में से निकल कर अंचल गच्छ में आये और पीछे आगमिक मत निकाला (देखो प्रवचन परीक्षा पत्र ३०६) .

आगमिकों ने राजेन्द्रसूरिजी की तरह तीन थुई का मत नहीं निकाला, उन का मात्र यह कथन था कि श्रुत-देवतादि के पास मोक्ष की प्रार्थना नहीं करनी चाहिये,

वे यों नहीं कहते थे कि सम्यग्दृष्टिदेव की स्तुति करने से सम्यक्त्व मलीन हो जाता है या सामायिकादिक में चतुर्थ-स्तुति करने से आश्रव लग जाता है ।

लेखकों की कुयुक्ति यह है कि—

“ सावज्जं जोगं पच्चखामि-कर के बैठने के बाद चतुर्थ स्तुति करने में सावध लगने से पूर्वप्रतिपन्न व्रत में दोष (अतिचार) लगता है ”

इस का उत्तर यह है कि चतुर्थ स्तुति में लेखकजी किस बात का दोष मानते हैं ? क्या उस में पापोपदेश है या धनपुत्रादि पौद्गलिक सुख की प्रार्थना की जाती है ? कहा जाय कि यह तो कुछ नहीं, तो फिर यथास्थितगुणवर्णनात्मक स्तुति में दोष किस बात का समझते हैं ?

यदि कहेंगे कि पंचम-षष्ठ गुणस्थानवर्ति श्रावक साधु अपने से हीन दर्जे के याने चतुर्थ गुणस्थान वाले देवताओं की स्तुति कैसे करें ? तो जवाब यह है कि गुणप्रकाश करने में अधिकार नहीं देखा जाता, राजा अपने गुणिमंत्रि की गुणस्तुति करता है, इस से यह नहीं कहा जा सकता कि राजा का अधिकार कम है ।

गुणी के गुण की प्रशंसा-स्तुति करने में भी लेखकजी यदि दोष मानते हों तब तो उन के शिर बड़ी आपत्ति की शिला गिरेगी, इस मान्यता से तो भगवान् श्रीमहावीर देव भी दोषित गहरेंगे, क्यों की गुणप्रशंसा तो भगवान् आप भी करते थे, सुलसा श्राविका के धर्मानुराग की आप ने कई वक्त स्तुति की थी, आनंद, कामदेवादि दृढधर्मि श्रावकों की आप बार बार तारीफ

(स्तुति) करते थे, लेखक महाशय सोचें कि त्रयोदशगुणस्थानकवर्ति तीर्थंकर श्रीमहावीर देव को यह मालूम नहीं था कि मुझ से हीन दर्जे के इन लोगों की मैं स्तुति क्यों करूं, पर यह बात उन के ज्ञान में भास रही थी, वे जानते थे कि चाहे जैसा नीचे दर्जे का जीव हो उस के सद्गुणों की प्रशंसा करने में कुछ भी दोष नहीं, उलटा गुण है, गुणी के गुणों की प्रशंसा करने से वह अपने विद्यमानगुणों को दृढ़ करेगा, इतना ही नहीं, दूसरे अनेक गुणों को-जो उस वक्त उस में नहीं हैं—प्राप्त करने की इच्छा प्रबल होगी, और क्रमशः अनेक शुभगुणों का स्थान बन जायगा । जो मनुष्य ईर्ष्यावश हो कर गुणी के गुणों की कदर नहीं करता, उस की तारीफ नहीं करता उसे शास्त्रकार ' अनार्य ' जैसे नीच शब्द से पुकारते हैं ।

पाठकमहाशय ! निम्नलिखित जैनशास्त्रों के पाठ भी देखलीजिये कि शास्त्र क्या रास्ता बता रहा है और त्रिस्तुतिकसमाज किस कुपंथ पर चल रहा है ।

“ गुणान् गुणवतां ये न, श्लाघन्ते मत्सरान्नराः ।
क्षुद्रा रुद्रार्यवत्प्रेत्य, ते भवन्त्यतिदुःखिताः ॥ ”

(दानकल्पद्रुम-तृतीयस्तवक ।)

अर्थ—ईर्ष्या के मारे जो पुरुष गुणवानों के गुणों की स्तुति नहीं करते हैं वे रुद्राचार्य की माफिक परभव में बहुत दुःखी होते हैं ।

“ एषा भगवतामाज्ञा, सामान्यस्यापि सुन्दरम् ।
कार्यः साधर्मिकस्येह, विनयो वन्दनादिकः ॥ ”

(उपमितिभवप्रचंचा कथा-प्रस्ताव ५ पृष्ठ ७५८ ।)

अर्थ—यह भगवन्तों की आज्ञा है कि सामान्य साधर्मिक

(समानधर्मी) का भी वंदनाप्रमुख विनय अच्छी तरह करना चाहिये ।

“ साहम्मियमित्तस्सवि भाणियं किर वंदनाईयं ”

(धर्मरत्नप्रकरण गाथा ८१ ।)

अर्थ-साधर्मिमात्र का भी वंदनादि करना कहा है ।

“ जिनेन्द्रशासने भक्तिं, यः कश्चित् कुरुते जनः ।

आनन्दजलपूर्णाक्षिस्तमहं बहुशः स्तुवे ॥ ”

(उपमितिभवप्रपञ्चा-प्रस्ताव ३)

अर्थ-जो कोई भी प्राणी जिनशासन के विषे भक्ति करता है उसकी मैं आनंदाश्रुपूर्णनेत्र वाला हो के वारंवार स्तुति करता हूं ।

“ भूरिगुणा विरल च्चिय, इक्कगुणो विहु जणो न सव्वत्थ ।

निद्दोसाण वि भदं पसंसिमो थोवदोसे वि ॥ ”

(धर्मरत्न-प्रकरण)

अर्थ-बहुतगुण वाले तो विरले ही हैं पर एक गुणवाला भी मनुष्य सब जगह पर नहीं है, इस लिये दोषरहितों का भी कल्याण हो, थोड़े दोष वालों की भी हम स्तुति करते हैं ।

“ तामेवार्यां स्तुवे यस्या धर्मपुत्रो वृषासनः । ”

(समरादित्यसंक्षेप पृ० ७)

अर्थ-उस आर्या (साध्वी) की मैं (प्रद्युम्नसूरि) स्तुति करता हूं; जिस का धर्मपुत्र (हरिभद्रसूरि) धर्मधुरंधर हुआ है ।

प्रियपाठकगण ! इन सब शास्त्रीय वचनों से आप को पूरी तसल्ली हो गई होगी कि उच्च अधिकार वाला भी अपने से छोटे

दर्जे वाले की स्तुति कर सकता है, अगर लेखकमहोदय यह शंका करेंगे कि इन पाठों में कहीं कहीं तो 'प्रशंसा' और 'श्लाघा' शब्द हैं इनका अर्थ 'स्तुति' क्यों लिखा ? तो उत्तर यह है कि प्रशंसा, श्लाघा, स्तुति विगैरह सब शब्द एकार्थक हैं । 'षोडशक'-टीका में यशोभद्रमूरिजी ने प्रशंसा का अर्थ 'स्तुति' किया है, यथा—

“ प्रशंसन्ति-स्तुवन्ति ”

विवेकमंजरी प्रकरण-टीका में भी 'प्रशंसा' शब्द का अर्थ 'स्तुति' किया है,

“ प्रशंसा-स्तुतिः ”—(विवेकमंजरी पृष्ठ २१३)

यानी प्रशंसा नाम स्तुति का है ।

'श्लाघा' शब्द का भी 'स्तुति' अर्थ इसी प्रकरण की टीका में किया है, जैसे—

“ श्लाघ्याः स्तुत्याः ”—(विवेकमंजरी-टीका-पृष्ठ २०८)

इन सब प्रमाणों से साफ साफ यह सिद्ध होता है कि चाहे कोई भी किसी की भी स्तुति कर सकता है, करनेवाला चाहे बड़ा हो या छोटा, और जब यह सिद्ध हो गया कि सामायिक या पौषध किसी में भी चतुर्थ स्तुति करने का दोष नहीं, तो लेखकों की यह कुयुक्ति कैसे चल सकती है कि सावद्ययोग का प्रत्याख्यान करने बाद चतुर्थ स्तुति करने में आश्रव लगता है ? ।

फिर लेखकों का कथन कि—

“ श्री प्रमोदविजयसूरिजी तथा श्री कल्याणविजयजी भी तीन थुई तथा चार थुई के दोनो देववंदन अपने २ अवसर पे करते कराते थे. ”

सरासर झूठ है, तीन थुई कथन करने वाला शास्त्र ही नहीं तो तीन थुई के देववंदन आये कहां से ? ।

त्रैस्तुतिक लोगों का कथन है कि ' कल्पभाष्य ' में तीन थुई करना कहा है, इस विषयमें उनके पास प्रमाण निम्न लिखित दो गाथाएं हैं.—

“ दुब्भिगंधमलस्सावि, तणुरप्पेस न्हाणया ।

दुहा वाओवहो चेव, तो चिट्ठंति न चेइये ॥ १ ॥

तिण्णि वा कट्टइ जाव, थुइओ तिसिलोगीया ।

ताव तत्थ अणुत्तायं, कारणेण परेणंवि ॥ २ ॥

ये दोनों गाथाएं राजेन्द्रसूरिजी के स्वहस्तलिखित चैत्यवन्दन-विचारपत्र-जो हमारे पास मौजूद हैं उन में से ज्यों की त्यों यहां पर लिखी हैं, इस से इस बात का भी पता चल सकता है कि राजेन्द्रसूरिजी संस्कृत या प्राकृत का शुद्ध लिखना भी नहीं जानते थे, क्यों कि इन दो गाथाओं में भी कितनी अशुद्धियां लिख मारी ? 'वाओ' यहां 'वाउ' चाहिये 'थुइओ' की जगह 'थुईओ' चाहिये, 'सिलोगीया' के स्थान 'सिलोगिया' या 'सिलोइया' होना चाहिये, 'परेणं वि' यहां 'परेण वि' ऐसा चाहिये, इत्यादि । वाहरे कलिकालसर्वज्ञ ! प्राकृतव्याकरणविषयक ह्रस्व, दीर्घ आदिकी अशुद्धियां भी तेरे ज्ञान में नहीं भासी ? ।

पाठकसज्जनो ! अब इन्हीं महात्मा का लिखा हुआ पूर्वोक्त गाथाओं का अर्थ भी अक्षरशः नीचे लिखा जाता है देख लीजिये,

“ दुर्गंधी और मलका झरणहारा एसा सरीर है जो सीनांन करो तो भी उपर ओर नीचे से वायु बह रहा ताते न रहे चैत्य में कारणे

जाय तो तीन थुई कर्षन करे जाव थुई तीन सिलोक की तहां तक तहां चेत्य में मुन्यो को आज्ञा हे कोई कारण होय तो अधीक भी रहे ”

मुझे दिखलाने की जरूरत नहीं की यह अर्थ कैसा गड़बड़ है । इन का असली अर्थ क्या है सो टीका से समझ लीजिये,

“ श्रुतस्तवानन्तरं तिस्रः स्तुतीस्त्रिश्लोकिकाः श्लोकत्रयप्रमाणा यावत् कुर्वते तावत् तत्र चैत्यायतने स्थानमनुज्ञातं, कारणवशात् परेणाप्युपस्थानमनुज्ञातमिति । ”

अर्थ-श्रुतस्तव (पुक्खरवरदीवट्टे) के बाद तीन श्लोक प्रमाण तीन स्तुतियां कही जायं तब तक मंदिर में ठहरने की आज्ञा हे कारणवश ज्यादा ठहरने की भी आज्ञा है ।

भावार्थ इस का यह है कि साधु जिनमंदिर में नहीं ठहरते अथवा, प्रतिक्रमण के अंत में मंगल के निमित्त ‘ नमोऽस्तु वर्धमानाय ’ या ‘ विशाललोचन ’ की मवाफिक चैत्यवंदन के अंत में प्रणिधानार्थ तीन श्लोकात्मक स्तुति कही जाय तब तक साधुओं को मंदिर में ठहरने की आज्ञा है, कारण विशेष में ज्यादा भी ठहरना अनुज्ञात है निष्कारण नहीं ।

इस से साफ जाहिर है कि पूर्वोक्त व्यवहारभाष्य की गाथाओं का अर्थ यह नहीं है कि चैत्यवंदन में तीन थुई करना किंतु ‘ चैत्यवंदन के अन्त में प्रणिधानार्थ तीन श्लोक कहे जायं तब तक मंदिर में ठहरना बिना कारण ज्यादा नहीं ’ यह उन गाथाओं का तात्पर्यार्थ है ।

यही तात्पर्य आचार्य धर्मघोषसूरिजी ने ‘ संघाचार ’ नामकी चैत्यवंदनभाष्य की टीका में स्पष्ट रीतिसे दिखाया है, वह पाठ यह है—

“ एतयोर्भावार्थः—साधवश्चैत्यगृहे न तिष्ठन्ति, अथवा चैत्यवन्दनान्ते शकस्तवाद्यनन्तरं तिस्रः स्तुतीः श्लोकत्रयप्रमाणाः प्रणिधानार्थं यावत्कथ्यन्ते—प्रतिक्रमणानन्तरमंगलार्थं स्तुतित्रयपाठवत्—तावच्चैत्यगृहे—(स्थानं) साधूनामनुज्ञातं निष्कारणं न परतः ॥ ”

इस भावार्थ से यह भी राजेन्द्रमूरिजी का कथन—कि ‘ये दोनों गाथाएं चैत्यवंदनविधिप्रतिपादक हैं’—उड गया, क्यों कि चैत्यवंदनविधिप्रतिपादक नहीं किंतु विना कारण जिनमंदिर में रहने का निषेध करने वाली पूर्वोक्त गाथाएं हैं। यह बात वादिवेताल श्री ‘शान्तिमूरिजी’ ने चैत्यवंदनमहाभाष्य में अच्छी तरह स्पष्ट की है, पाठ यह है,—

“ भणइ गुरू तं सुत्तं, चियवंदणविहिपरूवगं न भवे ।

निक्कारणजिणमंदिर, - परिभोगनिवारगत्तेण ॥ ”

अर्थ—गुरु कहते हैं ‘ तिन्नि वा ’ इत्यादि सूत्र विनाकारण जिनमंदिर में नहीं ठहरना इस बात को कहने वाला होने से चैत्यवंदनविधि का प्ररूपक नहीं है।

त्रैस्तुतिकों का दूसरा स्वमतपोषक प्रमाण—

“ निस्सकडमनिस्सकडे चेइए सव्वहिं थुई तिण्णी । वेलं व चेइ-याई नाउं एक्केकिआ वावि ॥ ”

यह गाथा है, परंतु यह भी उन की पूर्ण भूल है, यह गाथा चैत्यपरिपाटी (परिवाडी) के समय में चैत्यवंदनविधिदर्शक है, इस का मतलब यह है कि—

“ एक जगह पूर्ण चैत्यवंदन कर लेने के बाद और सब मंदिरों में भगवद्गुणवर्णक मंगलरूप तीन श्लोक कहने चाहिये, यदि मंदिर

बहुत हों और समय थोड़ा हो तो एक ही श्लोक, गाथा, दुहा कहना पर मंदिर में अवश्य जाना चाहिये ”

इसी विधि से वर्तमान में श्रीसंघ चैत्यपरिपाटी करता है, खुद तीन थुई के साथ श्रावक भी इसी मुजब वर्तते हैं, यदि ऐसा न हो तो वे चैत्यपरिपाटी करते वक्त एक मंदिर में पूर्ण चैत्यवंदन करके दूसरों में जा कर सिर्फ दो तीन ही काव्य, श्लोक, या दोहरे बोल के क्यों चले जाते हैं ? सब जगह तीन या एक स्तुति के देववंदन क्यों नहीं करते पर करे कैसे ? उस गाथा का अर्थ ही मेरे लिखने मुजब है तो दूसरा निकाले कहां से ? सिर्फ मुंह से बोलते हैं कि इस में तीन थुई हैं, वाकई यह कहे बिना तो इन का कक्का चले भी कैसे ? यदि उन गाथाओं का असली अर्थ अपने मुख से कह दें तब ही इन को यह मत छोड़ना ही पड़े न ?, हां हृदय में जरूर कबूल करते हैं कि—

‘ तीन थुई का मत सरासर शास्त्रविरुद्ध है ’

अगर ऐसा न होता तो सुरत नगर के संघसमूह खुद राजेन्द्रसूरिजी ने चार थुई करने का स्वीकार क्यों कर लिया था ? क्या उस वक्त ‘ निस्सकड ’ इत्यादि गाथाओं को राजेन्द्रसूरिजी भूल गये थे ? सच तो यह है कि वे उस वक्त यथार्थ समझ गये थे कि—

“ हमारा मत शास्त्रसंमत नहीं है, जिन शास्त्रों के पाठों से हमने यह मत चलाया है उन पाठों का मतलब ओर है, हमने उन का अर्थ करने में भूल की है, पर अब तो हो ही क्या सकता है, जिस वाड़े में अनेक अज्ञानि भेड़ों के टोले भर गये हैं; उन को पीछा

खाली कैसे करना ? उन के आगे अपनी भूल प्रकट भी किस प्रकार की जाय ? यदि मान छोड़ के कह भी दें कि ' अपना यह मत शास्त्र-विरुद्ध है ' तो माने कौन ? सगे बाप का भी नहीं माननेवाली वानियों की जात हमारा अन्यथा कथन किस प्रकार मान लेगी ? ”

इस प्रकार का विचार राजेन्द्रमूरिजी के हृदय में कई वर्षों तक चलता रहा, पर मनोगत विचार भी गुप्त कहां तक रह सकता है, यह गुप्त अभिप्राय भी उन के परिवार के साधुओं के कानों तक पहुंच गया, और सब के मन पर अच्छा प्रभाव पड़ा, यहां तक कि कई महानुभाव भव भीरु साधुओं के मुख से तो इस प्रकार वचन भी निकलने लगे—

“ यदि इस प्रकार अपना मत निमूर्ख ही है तब तो इसका त्याग ही श्रेयस्कर है ? ”

राजेन्द्रमूरिजी इस गंभीर प्रश्न का समाधान सिर्फ इसी वाक्य से किया करते थे कि—

“ अवसर आने पर सब अच्छा होगा, हाल तो चलने दो ”

पाठक महोदय ! राजेन्द्रमूरिजी का यह कथन अलवत्ता ठीक था, आप समझ सकते हैं कि जो आदमी झूठी या सच्ची किसी भी बातको पकड़ लेता है वह उसे बिना कारण नहीं छोड़ सकता राजेन्द्रमूरिजी के वास्ते भी यही बात थी, भावियोग से तीन थुई का मत उन से निकल गया था, पीछे से समझ भी गये थे कि यह काम ठीक नहीं हुआ, पर अब उसे एकदम छोड़ना कठिन कार्य था इस लिये मौका देख रहे थे कि यह मत कब छोड़ा जाय, इतने में वह समय भी निकट आया मालूम होने लगा ।

संवत् १९६० (गुजराती) १९५९ का चतुर्मास राजेन्द्रसूरिजी ने सुरत में किया, सुरत के संघ में इस नूतन मत की खूब चर्चा चली, यहां तक कि राजेन्द्रसूरिजी की उस चिरकाल की भावना की सिद्धि का समय अतिसमीप होने का अनुमान भी लोगों ने बांध लिया था, पर होवे क्या ? जिस कार्य की भवितव्यता ही दूर है वह क्यों कर हो जाय ! ।

यद्यपि राजेन्द्रसूरिजी का पूरा विचार था कि इस मौके पर चार स्तुतियां कर लेंगे, अत एव—

“ पन्यासजी चतुरविजयजी ने उपाश्रये तेमनी समक्ष राजेन्द्रसूरिजी पधारेला हता तथा संघ समस्त मलयो हतो तेमनी वच्चेनो त्रण के चार थुइ नो झगडो कोर मुकी राजेन्द्रसूरिजी ने संघे विनंति करवाथी तेमणे मान्य करी छे अने तपगच्छती समाचारीप्रमाणे जो वर्ते तेमने साधु मानवो संवत् १९५९ ना जेठ वद १३ ने वार भोम ”

इस लेख पर उन्होंने ने हस्ताक्षर (दस्तखत) भी कर दिये थे, परंतु,

“ श्रेयांसि बहुविन्नानि भवन्ति महतामपि ”

यह कहावत असत्य नहीं थी, उस परम सुलह-शान्ति के कार्य में भी विग्रसंतोषी लोक अपने बल की परीक्षा करने लगे. मारवाड़ और मालवे के मपत्री त्रैस्तुतिक श्रावकों ने राजेन्द्रसूरिजी के कान फूँके और पहले ही से वे अपनी इज्जत का दावा करने लगे कि—

“ आप तो साधु हैं, आज यहां तो कल कहीं डेरा करेंगे पर हमारी नाक कट जायगी इस का जवाब दाता कौन ? जिस मत की

सच्चाई के लिये हमने शिरतोड़ महनत की, अपने माबापों का अपमान तक करके जिस पंथ में प्रवेश किया उसी मत को अब हम किस मुख से अमान्य कहेंगे ? अगर हम न छोड़ें तो भी हमारा सहायक कौन ? हमारा गुरु कौन ? हम किस के आगे शिर झुकावेंगे ? किस के उपदेश से हम धर्म क्रिया पालेंगे ? ”

इन वचनों से राजेन्द्रमूरिजी का वह निश्चय ढिग गया, उन के उस चिरकालक विचार का शीघ्र ही विलय हो गया, और उन ममता के मूल बनियों के मोह में फंस कर वे अपनी प्रतिज्ञा से पतित हो गये ! ।

त्रैस्तुतिक सज्जनों को सोचना चाहिये कि यदि आप के मानने के मवाफिक शास्त्रों में तीन थुई कही होती तो राजेन्द्रमूरिजी सुरत में चार थुई करने के लिये उद्यत क्यों हुए ? क्या उस वक्त भी कोई पूजा प्रतिष्ठादि कारण आ पड़ा था जो चौथी थुई करने को तत्पर हो गये ? क्या ही अच्छा होता यदि उस वक्त वे अपनी प्रतिज्ञा को पालन करने के लिए भी चार स्तुति कर लेते ! । खैर ।

फिर लेखक अपनी करतूत का नमूना बाहर लाते हैं कि—

“ परंतु जैनभिक्षुजी की कल्पित परंपरा के दादा परदादादि पूर्वजों ने तो श्रीतीर्थंकर, गणधर पूर्वधर, बहुश्रुत गीतार्थों के वचन उत्थाप के भाव पूजा जो (भावस्तव) सामायिक पोसहादि (भावपूजा) चारित्रानुष्ठान का खंडन आज दिनों तक करते हैं और स्वकीय तथा परकीय जन्म बिगाडते हैं ! तैसे श्रीविजयराजेन्द्रमूरिजी की पाट परंपरा के पूर्वाचार्य नहीं करते कराते थे अब ऐसी ही अपनी २ परंपरा की जुदी जुदी व्यवस्था है ”

लेखक महाशयों को इस बात का खयाल है कि कल्पित परंपरा किसे कहते हैं ? जो परंपरा अविच्छिन्नधारा से चली आती हो, जिस में क्रिया प्ररूपणा का विभेद न हो उस परंपरा को भी कल्पित कहने का दुःसाहस विना उल्लू के ओर कोइ कर सकता है ? ।

कल्पित परंपरा है वह जिस के पूर्व पुरुष सर्वथा आरंभ परिग्रहासक्त थे, जिस के उत्तर पुरुषों ने अपने गुरुओं को त्याग के विरुद्ध प्ररूपणा द्वारा तीन थुई का मत निकाला, और जब लोगों में ' नगुरुए ' कहलाने लगे तो लज्जा के मारे फिर उन त्यागे हुए असंयत पुरुषों को अपने पूर्वाचार्य स्थापन कर के आप उन की परंपरा के आचार्य, साधु कहलाने लगे, लेखक जी ! सच कहिये यही आप की परंपरा है कि नहीं ? ।

जैनभिक्षुजी के तो दादा परदादा ही क्यों महावीर स्वामी से ले कर आज तक के परंपरागत सभी आचार्य साधु गुरु श्रीतीर्थकर, गणधर, बहुश्रुत गीतार्थों के वचनानुसार प्रतिक्रमण पौषधादि धार्मिक कार्यों में चार स्तुति करते कराते आये हैं जिस को लेखक तो क्या इनके पूर्वज भी नहीं छोडा सकते ! । भावपूजा का खंडन वे लोग करते हैं जो शास्त्रप्रमाणों का अनादर करके अपनी तुच्छ बुद्धि से नया मत चलाते हैं क्यों कि भावपूजा उसी का नाम है जो वीतरागकी आज्ञानुसार अनुष्ठान किया जाय, विना आज्ञा देवस्तुति तो क्या अपने शरीर तक का त्याग करने वाला भी भावपूजा का कर्ता नहीं हो सकता, भावपूजा वही करता है जो जिनाज्ञानुसार भला काम करता है । जिनस्तुति भावपूजा नहीं, देवतास्तुति द्रव्यपूजा नहीं, जिना-

ज्ञा में सब कुछ है, जिस में जिनाज्ञा है वही भावपूजा और जिनाज्ञाशून्य द्रव्यपूजा है ।

लेखकों की मान्यता है कि ' सामायिक पौषधादि में देवकी स्तुति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह भावपूजा है, और देवतास्तुति द्रव्यपूजा है, भाव के बीच में द्रव्य का प्रवेश उचित नहीं '

मेरा कहना यह है कि स्तुति भी सामायिक प्रतिक्रमण की तरह भावपूजा ही मानी गई है, देखिये चैत्यवंदनभाष्य वृत्ति-

“ अथ तृतीया भावपूजा, सा च स्तुतिभिर्लोकोत्तरसद्भूततीर्थं करगुणगणवर्णनपराभिर्वाक्पद्धतिभिर्भवति, आह च--तइया उ भाव-पूआ ठाउं चियवंदणोचिए देसे । जहसत्ति चित्तथुइथुत्त माइणो देव-वंदणयं ति ॥ ”

अर्थ-अब तीसरी भाव पूजा है, सो वह तीर्थकरों के सद्भूत लोकोत्तर गुणों का वर्णन करने वाली वचनरचनारूप स्तुतियों से होती है, अन्य ग्रन्थकार भी कहते हैं-' चैत्यवंदन करने योग्य स्थानमें ठहर के अनेक प्रकार के स्तुतिस्तोत्रों से देववंदन करना इसका नाम भाव पूजा है, ' यह पूजा का तीसरा भेद है,

इस से यह सिद्ध हुआ कि सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध हो या मत हो केवल देववंदन भी भावपूजा है, इस लिये लेखक और उन के वर्तमान गुरु का यह कथन कि-

“ सामायिक पौषध रहित श्रावक देव वंदन करे उस में चोथी थुई कहने का दोष नहीं ”

केवल उन्मत्त प्रलाप है, क्यों कि मुख से तो कहते हैं कि भावपूजा में चतुर्थ स्तुति कहने से भावपूजा खंडित हो जाती है और सामायिक विना मंदिरादि में देववंदनरूप स्तुतिपूजा में चतुर्थ स्तुति का उपदेश करते हैं, बडा ही आश्चर्य है ! क्या स्तुति पूजा भावपूजा नहीं है ? यदि है तो चतुर्थस्तुति से उस का खंडन हो जायगा कि नहीं ? ।

पाठकगण ! आप समझे ? यह कुल लेककों और इन के गुरु की चालबाजी है, ये लोग इसी प्रकार लोगों को जाल में फंसाते हैं, पर आप जानते हैं कि अब वह जमाना नहीं है, अब लोगों का अज्ञानतिमिर कुछ दूर हटने लगा है अतएव वे इस प्रपंचजाल को देखने लगे हैं, और इन प्रपंचावतार त्रैस्तुतिकों से नफरत कर रहे हैं कि ' जाली त्रैस्तुतिकों से हम बचते रहें ' ।

लेखक जी ! जरा आंखें खोलकर देखिये, चारित्रानुष्ठान का खंडन जैनभिक्षु जी करते हैं कि आप सरीखे नवीन मतावलम्बी लोग ? सनातन धर्म से लोगों की श्रद्धा भ्रष्ट करने वाले, उन्हें ममत्वदेव के उपासक बनाने वाले त्रैस्तुति लोग स्वपर का जन्म विगाड़ रहे हैं कि अन्य कोई ? इस बात की तो पूरी तौर से तलाश कर लीजिये ! ।

फिर लेखक जी अपने दादे की बकालत करते हुए कहते हैं कि-

“ जालोर के कांकरिया वास में श्रीपार्श्वनाथजी का मंदिर है, इस के मूलनायकजी के ऊपर प्राचीन आचार्य का नाम का एक जीर्ण लेख था उस लेख को एक मुसलमान शिलावट के पास घिसवा डाला

और उसके ऊपर राजेन्द्रसूरिजी ने अपने नाम का ' संवत् (१९४८) व० वैशाख सुदि (६) श्रीपार्श्वविंबं प्रतिष्ठितं भ० राजेन्द्रसूरिणा जालोर नगरे कांकरिया वास मध्ये ' यह उपर का लेख जैनभिक्षुजी ने अत्यंत ही असत्य (झूठा) छपवाया है क्यों कि कोई स्थान पर नहीं तो राजेन्द्रसूरिजी ने अखंडित प्राचीन मूर्तियोंको उठवाकर नयी स्थापित करवाई है ! न तो कांकरियावास के मूलनायकजी के उपर प्राचीन आचार्य के नाम का लेख था ! और न राजेन्द्रसूरिजीने मुसलमान शिलाबट के पास घिसवाया ! ”

कौन कहता है जैनभिक्षुजी का यह लेख झूठा है ? जैनभिक्षुजी का यह कथन सत्य है कि राजेन्द्रसूरिजी ने कई जगह पर प्राचीन मूर्तियां उठवाई और जहां तक अपनी चली उन मूर्तियों के लेख भी घिसवाये हैं, जिस का ताजा दृष्टान्त यह है कि संवत् १९५५ की साल में राजेन्द्रसूरिजी ने आहोर में प्रतिष्ठा तथा अंजनशलाका की थी, यह बात उस तर्फ के लोग प्रायः जानते ही होंगे, उसी मौके पर गांव 'गुडा-बालोतरा' से एक प्राचीन जिन मूर्ति—जिस पर संवत् १२१३ का लेख भी मौजूद है—राजेन्द्रसूरिजी ने फिर उस की प्रतिष्ठा, अंजनशलाका करने के लिये अपने रागी श्रावकों को भरमा के उसे आहोर मंगवाने का उद्योग किया, वह कुछ सफल भी होने की तय्यारी में आ गया, बात यों बनी कि राजेन्द्रसूरिजी की शिक्षा के अनुसार उन के श्रावकों ने उस प्राचीन मूर्ति को बैल गाडीमें बिठा कर रातोंरात आहोर की तर्फ रवाना कर दी, पर ऐसा अन्याय गुप्त भी कहां तक रहता है ? जल्दी ही इस प्रपंच का पता गांव के महाजन को लग गया उन्होंने उन प्रपंची त्रैस्तुतिकों का पीछा किया और 'आहोर' के दरवज्जे के

पास उस प्रतिमा को आगे ले जाने से रोका, बहुत प्रपंच हुआ और आखिरकार प्रतिमा ज्यों की त्यों पीछी ' गुडे में ' लाई गई जो आज तक वहां मूलनायक के स्थान पर पूजी जाती है। अगर इस में किसी को शंका हो-कि पूर्वोक्त हकीकत बनी बनाई है या कल्पित है-वह गुडा के श्री संघ से दर्याफत कर के समाधान कर लेवे, और यह शंका हो कि उस पर शिला लेख है कि नहीं उसे वहां जा कर उस मूर्ति का दर्शन कर के समाधान कर लेना चाहिये, क्यों कि वह लेख अभी तक मौजूद है जिस को घिसवाने का प्रपंच राजेन्द्रसूरिजी ने किया था।

लेखक जी ! आप ही कहिये जैनभिक्षु का लिखना गलत है या आप का ? इस हकीकत में रत्तिभर भी जूठ हो तो दिखा दीजिये !।

इसी प्रकार गांव 'कोरटे' में जो प्राचीन प्रतिमायें निकली हैं उन पर भी राजेन्द्रसूरिजी ने प्रतिष्ठा के समय अपने नाम का लेख लिखना चाहा था परंतु आस पास के गावों के संघने यह बांधा लिया कि ' यदि राजेन्द्रसूरिजी ने इन प्रतिमाओं पर नया लेख खुदवाया तो हम प्रतिष्ठा में ठहरेंगे नहीं ' तब उन्होंने सबर क्रिया, अन्यथा कोरटा में भी प्राचीन लेखों को घिसवाकर नया लेख खुदवा ही लेते !।

लेखकजी महाराज ! हम आप के सूरिजी की कितनी करतूतें लिखें ! उन्होंने अपनी लगभग सारी जींदगी इसी प्रकार के कामों में बरवाद की है जो फायदे के बड़े नुकसानकारक थे।

लेखकों की यह दलील कि-कांकरियावास के मूलनायक जी के ऊपर शिलालेख था ही नहीं तो राजेन्द्रसूरिजी घिसवावे

किस को ?—सरासर झूठ है, कौन कह सकता है मूल नायक जी के ऊपर लेख नहीं था ? बराबर था, सारा जालोर का जैनसंघ जानता और कबूल करता है कि इसपर पुराणा लेख था और राजेन्द्रमूरिजी ने ' जमाल खां ' नामक मुसलमान शिलावट के पास घिसवाया ।

इतना ही नहीं, उस शिलावट का बेटा—जिसका नाम ' करिम खां ' है, और जो आज कल गांव ' अगवरी के जैन मंदिर में काम करता है—वह भी कबूल करता है कि ' मेरे पिताजी ने कांकरियावास के पार्श्वनाथ जी का पुराना लेख घिसा और नया खोदा था, ' क्यों लेखक जी ! जैनभिक्षु जी का कथन झूठा ठहरा कि आपका ? ।

फिर लेखक तेहरीर करते हैं कि—

“ इस प्रतिमा का उत्थान श्रीजालोर गढका रहीस राणावतजी के योधपुर विगैरे के काम के करने वाला कामेती (कामदार) ऊपर कोटा कानुगा नवलमलजी ने—मकराणा जयपुर या सादरी से लाई हुई—प्रतिमा तीन चार वर्ष तो खुद अपने घर में भूहरा में रक्खी पीछे उपाश्रय के आले में लाके धरी थी, अंजन शलाका विना की नवीन प्रतिमा के उपर प्राचीन (जूनी) अवर्चीन (नवीन) ओलखान के लिये ' पूर्वाचार्यों की परंपरा गत नाम खुदवाते आये हैं जिस अनुरोध (मिशाल) से राजेन्द्रमूरिजी ने संवत् मासादि नाम खुदवाया; परंतु न केवल अमना नाम रखने की अभिलाषा से नाम खुदवाया है:— इस की सावुती का लेख प्रथम तो कानुगा नवलमलजी का लेख ऊपर लिख चुके हैं ”

लेखको का यह कथन कि ' उस प्रतिमा की अंजन

शलाका नहीं हुई थी ' केवल असत्य है, कौन कहता है वह प्रतिमा अंजनशलाकारहित थी ? उस पर का लेख देखने वाले जालोर में अभी तक मौजूद हैं उस पर के लेख का मतलब ऐसा था कि—

“ तीर्थ वरकाणा में इस बिंब की प्रतिष्ठा अंजनशलाका हुई ”

इस से लेखकों का यह कथन भी झूठा सिद्ध हुआ कि वह प्रतिमा ' मकराणा जयपुर या सादरी से आई थी ' ।

पहले चाहे कहीं से भी आई हो पर नवलमलजी तो उस प्रतिष्ठित प्रतिमा को वरकाणा से ही लाये थे ऐसा उन के स्वत-पत्रों से सिद्ध होता है, यदि इस बात में लेखकों को शंका हो तो जालोर आ कर निर्णय कर लें । लेखक जी ! कहिये आप के राजेन्द्रमूरिजी ने जिस प्रतिमा का लेख घिसवाया वह प्रतिष्ठित थी कि अप्रतिष्ठित ? ।

फिर लेखक झूठ की जाल बिछाते हैं कि—

“ काकरिया वास के मंदिर का असल मूल नायकजी (१००) वर्ष उपरांत के तो प्राचीन (जुने) थे परंतु नीचे प्रमाणे खंडित हो गये थे ”

जैनभिक्षु ने ऐसा कब कहा कि पहले के मूलनायक जी जो कुछ कहीं २ खंडित हैं उन पर का लेख घिसवा डाला ? जैन-भिक्षु का यह कथन—

“ इस के मूल नायक जी के ऊपर प्राचीन आचार्य के नामका एक जीर्ण लेख था, उस लेख को एक मुसलमान शिलावट के पास घिसवा डाला ”

—सत्य है, नवलमल जी ने जो प्रतिमा वरकाणा से लाई थी

वह प्रतिष्ठित थी उस के ऊपर प्रतिष्ठा करानेवाले आचार्य के नाम का शिला लेख भी था, उसे राजेन्द्रसूरिजी ने 'जमाल खां' शिलावट के पास रात के समय घिसवाया और अपने नाम का नया खुदवाया, जब इस की खबर मंदिर के गोठियों को मिली तो वे बहुत ही नाराज हुए, यहां तक कि उस शिलावट को प्रतिष्ठा के निमित्त इनाम (पारितोषिक) भी नहीं मिला, यह बात जालोर में मशहूर है ।

फिर लेखक जी अपनी युक्ति दिखाते हैं कि—

“जेकर मूलनायक जी के ऊपर प्राचीन आचार्य के नाम का जीर्ण लेख मुसलमान शिलावट के पास घिस के साफ करवाकर अपना नाम का लेख राजेन्द्रसूरिजी ने खुदवाया होता तब तो अभी वर्तमान मूलनायक हैं तिन की मूर्ति जूनी होनी चाहिये सो तो है नहीं ! इस मंदिर जी के जूने असली मूलनायक जी तो हाल नीचे पढासण पे विराजमान हो के पहिले पीछे की दोनों साबुती दे रहे हैं कि न तो प्राचीन आचार्य का नाम मुसलमान शिलावट के पास घिसवाया ! न अपना नाम रखने की अभिलाषा से नया नाम शिलावट के पास खुदवाया ”

यह भी लिखना सर्वथा निर्वल है, विना निशान आदि के एकदम यह पता नहीं चलता कि यह प्राचीन है या अर्वाचीन जो अत्यंत प्राचीन होती है उसी का पता चलता है कि यह प्रतिमा प्राचीन है, बाकी २००—३०० सौ वर्ष की पुरानी की प्राचीनता सहसा नहीं पहिचानी जाती, जालोर शहर के बाहर ऋषभदेव जी के मंदिर में जो प्रतिमाएं हैं उन्हें देख के कोई भी यह नहीं कह सकता कि ये ७५० बरस की पुरानी होंगी, सिर्फ उन पर के संवत १२२१ आदि के पुराने लेखों से जाना जाता

है कि प्रतिमाएं पुरानी हैं, यही दशा कांकरियावास के मूलनायक जी की है, उन्हें देखते ही यह नहीं कहा जा सकता कि ये कितने पुराने होंगे सिर्फ उन की प्राचीनता का साक्षी लेख था सो वह तो राजेन्द्रसूरि जी ने पहले से ही घिसवाडाला, अब तो इस बात का-कि 'वह प्रतिमा प्रतिष्ठित थी कि नहीं? उस पर लेख था कि नहीं, ? और उसे घिसवा के राजेन्द्रसूरि जी ने अपने नाम का नया लेख खुदवाया कि नहीं ?' निर्णय जालोर वालों के खत-पत्रों से और उन के मुखसे-जो संवत् १९४८ की साल में उस प्रतिष्ठा में शरीक थे-हो सकता है, इस लिये लेखकों को दावा के साथ मैं यह कहता हूं कि यदि आप अपने पूर्वोक्त लेखको सत्य किया चाहते हों तो प्रमाण के साथ पेश आइये ! अन्यथा आपकी सारी दलीलें झूठी और जाली हैं यह कहने में कुछ भी संकोच नहीं रहेगा ।

लेखक बार बार उस खंडित मूर्ति को मूलनायक बता कर लोगों को भूलाना चाहते हैं पर याद रहे कि अब आपकी ये करतूतें कोइ भी सच्ची नहीं मानेगा, क्यों कि अब जिस प्रतिमा पर राजेन्द्रसूरिजी के नाम का लेख है उसी पर पहले का लेख था यह बात प्रायः जालोर वासी जानते ही हैं और मैं भी कई दफे कह चुका हूं ।

फिर लेखक महाशय अपनी कपटपटुता जाहिर करते हैं कि-

वह मंदिर श्री संघ का है, और प्रतिष्ठा कराने वाला भी श्री संघ ही था वह वर्तमान में अब भी जयवन्त वर्त रहा है ! और दंड चढ़ाने वाला (१७) वर्ष के बाद और ध्वजा चढ़ाने वाला (१५)

वर्ष के बाद और शिलावट (५) वर्ष के बाद अपना अपना आयुपूर्ण करके सुख सामाधि से परलोक गये हैं ”

पाठकवर्ग ! देख लीजिये लेखकों की असत्यता की निशानी, वे कहते हैं कि प्रतिष्ठा करने वाला श्री संघ था, कौन कहेगा कि प्रतिष्ठा श्री संघने कराई ? प्रतिष्ठा कराई है ‘ लोढा दलीचंदजी ’ ने, लेखक जी ! जरा आंखें खोल के देखो कि आप के राजेन्द्रसूरिजी का लेख क्या कहता है, यदि उसे आपने नहीं देखा हो तो देख लीजिये यहां पर लिख दिया जाता है,

“ संवत् १९४८ वर्षे वैशाखवदि ६ दिने श्रीजालोरनगरे कांकरियावासमध्ये श्रीपार्श्वजिनप्रासादप्रतिष्ठा कृता । म । राजेन्द्रसूरिणा प्रतिष्ठा कारको वृद्धशाखायां लोढा उत्तमचंद्र सुत दलीचंद ” (इत्यादि)

क्यों लेखक जी ! अब तो देखा कि नहीं ? प्रतिष्ठा कराने वाला श्री संघ है कि दलीचंदजी ? इन्हीं दलीचंदजी के प्राण संवत् १९४९ के श्रावण वदि १४ के दिन दूकान पर बैठे बैठे निकल गये थे ।

इसी मंदिर का कलशारोपण शा० जीताजी ने किया और संवत् १९४९ के चैत्र सुद १३ को वे भी परलोकवासी हो गये ।

ध्वजादंड चढाने वाले शा० जवानमलजी थे, उन के भी एकाएक पुत्र का दुःखदायक मरण हो गया ।

वह शिलावट भी प्रतिष्ठा के बाद थोड़े ही अरसे में बीमार पडा और दो वर्ष तक कठिन व्याधि का कष्ट भुगत के आखिर इस दुनिया से बिदा हुआ ।

क्या यह सब हालात उस प्रतिमा की भयंकर आशातना का

फल नहीं समझना ? , लेखकजी यों ही बेखबर गप्प लगा देते हैं कि वे १७ और १५ वर्षों के बाद परलोक गये पर लेखकों को तलाश करने से मालूम होगा कि १७-१५ वर्ष तो दूर रहो इतने महीने भी उनसे नहीं निकाले ! ।

फिर लेखक जी जैनभिक्षु के परभव की चिंता करते हुए कहते हैं कि—

“ जैनभिक्षु जी ! आप तो स्वमत परमत के मूर्ख लोकों में पवित्र श्रीजैनधर्म की हांसी मशकरी निन्दा करवा के जहां कर्दम नहीं तहां पानी बताना ! ऐसे २ झूठ के घोड़े दडवडा के ज्ञानी जाने ! पर लोक में कौन कुगति के सुख भोगने की आप की इच्छा भई है ? सो तो आप ही अपने हृदय में शोच विचार के पर लोक का कार्य सुधारोगे तो सुधरेगा ! नहीं तो आप की इच्छा ”

पाठकवृन्द ! देखिये इन लेखकों का ‘ परोपदेशपाण्डित्य, ’ जैनभिक्षु का कथन तो—जो यथार्थ है—लेखकों को जैनधर्म की हांसी मस्खरी कराने वाला लगा और वे खुद तथा उनके गुरु कई प्रकार से मिथ्या भाषण कर के अपनी और जैन धर्म की हांसी करा रहे हैं उस की कुछ भी गिनती ही नहीं ? लेखकों के गुरुजी कैसी हास्यजनक बातें बनाते हैं जिस का एक ताजा ही दृष्टान्त लीजिये ।

गतचतुर्मास के उतार गांव ‘ बाघरा ’ के महाजनों ने गांव सियाणे जाकर लेखक जी के गुरु (धनविजय जी) को प्रतिष्ठा का मुहूर्त देने के लिये प्रार्थना की ।

धनविजय जी ने उत्तर यह दिया ‘ तुम सब श्रावक और राजेन्द्रमूरिजी के शेष साधु हमारी आज्ञा के मुताबिक क्रिया

करना कबूल करो तो मैं मुहूर्त दूं और प्रतिष्ठा करने को आज्ञा । '

गांव वालों ने सोचा कि यह साधु बड़ा जाली और हठी है पहले ही से हमको जालमें फंसाना चाहता है, पर यह बात होने की नहीं, हम प्रतिष्ठा दूसरे साधुओं से ही करावेंगे ।

बस प्रतिष्ठा का मुहूर्त-तीन थुई के मुनिश्री मोहनविजय जी की सलाह से जालोर के श्रीमाली पं० रविदत्तजी के पास निकलवा लिया और धनविजय जी देखते ही रहे ।

अब क्या था इतने ही से धनविजय जी के तो बंध ढीले हो गये, उन्होंने ने ठाण लिया कि मेरे बिना भी प्रतिष्ठा हो जायगी, अब करना क्या ? दूसरों से प्रतिष्ठा होने देनी ? दूसरे प्रतिष्ठा की धूमधाम में दाव खेलें और धनविजय देखता ही रहे क्या यह बात उचित है ? नहीं ऐसा न होगा, चाहे मान घटे या बढ़े, दुनिया अच्छा कहे या बुरा जो कुछ हो, पर प्रतिष्ठा का डेढ़पंच तो धनविजय ही होगा, प्रतिष्ठा के प्रपंच के प्रासाद पर तो धनविजय की ही ध्वजा उडेगी, पर अब करना क्या ? करना क्या है ? प्रथम की प्रार्थना नहीं मानी तो खैर, अब बिना ही प्रार्थना विनती के वहां जाना और बाजी हाथ कर के फिर दाव खेलना बस यही धनविजय के जीवन मालिका का मेरु और महिमा का कीर्ति स्तंभ है ।

लोभी मनुष्य का सर्वविनाश होता है यह बात सर्वांश सत्य है, पर निर्लोभता रखनी भी मनुष्य का कष्ट साध्य कार्य है, धनविजय जी की भी इस लोभने क्या अवस्था की यह बात इस हकीकत से स्पष्ट होती है, वे प्रतिष्ठादि कार्य में अपना मतलब ठीक ठीक निकाल लेते हैं चीज में से चीज, औषधियों में से

औषधी, ग्रह आदि की स्थापना की चांदी, प्रतिष्ठा की पैदाइश का चौथा हिस्सा या जितना मिले उतना रुपया यह सब तो उन का खानगी लाभ, सिवा इस के कई लोगों को सैंकड़ों रुपया दिलवा के अपनी वाह वाह उडवानी-जैनों के झोंपडे खाली करा के मिथ्यात्वी लोगों के घरों को भरवाना और अपनी क्षणिककीर्ति की दुराशा पूर्ण करनी यह उनका सर्वदृश्य (बाह्य) लाभ ! ।

ऐसे २ लाभ लोभ की जाल में जकडे हुए वे किस प्रकार प्रतिष्ठा जैसे कार्य से अलग रह सकें ? मान को भी छोडा, अप कीर्ति की चदर भी ओढी, मूर्खता भी स्वीकारी पर लोभ देव के उपासकों ने अपने उपास्यदेव की भक्ति न छोडी । अपने पूज्य परमेश्वर की भक्ति का योग्य समय देख कर सुवर्ण यज्ञ से उस की तृप्ति करने को गांव बाघरे आ ही गये ! ।

“ प्रायः समासन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिनीभवन्ति ”

यह कविवचन असत्य नहीं,—विपत्ति के समय पुरुषों की बुद्धि मलीन हो जाती है यह बात झूठी नहीं, सुवर्ण का मृग देखने से रामचंद्र की बुद्धि मलीन हुई—वे उस के लोभ में फंसे यह बात ऐतिहासिक है, यद्यपि सत्य है पर भूतकालीन है, किसी की ओखों देखी नहीं, इस लिये इस समय रामचंद्रजी की अपेक्षा धनचंद्रजी का दृष्टान्त पूर्वोक्त वचन का विशेष समर्थन करता है यह मेरी ही नहीं हजारों मनुष्यों की मान्यता सत्य है । रामचंद्रजी की उस लोभ दशा का फल सिर्फ एक सीता के वियोग में परिणत हुआ तब धनचंद्रजी की लोभिष्ठ वृत्ति ने उन्हें अपने सर्वस्व से हाथ धुलाये । शांति-सीता का वियोग ही नहीं, सर्वविनाश किया. धैर्य-पिता का शतग्रन्थ विनिपात किया. क्षमा-जननी कों

प्राण मुक्त किया, मनोनिग्रह-भ्राता के गले पाश किया सत्य-पुत्र को नाम शेष किया, दया-भगिनी की दुर्गति की और विवेक मित्र का घोर विरोध करा के अविचारदंडकारण्य में भटकाया ।

प्रियपाठक ! अभी तक आप की जिज्ञासा पूरी नहीं हुई होगी, आप इस विचार में होंगे, जैसे रामचंद्र को कुछ समय आपत्ति देखने के बाद फिर संपत्ति का समुद्र हस्तगत हुआ जैसे इन के विषय में हुआ या होगा कि नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देना हाल दुष्वार है, मैं ऐसा सातिशयज्ञानी नहीं कि अपना वचन केवलीभाषित होने का दावा करूं ! तथापि इन की वृत्ति, लोकमान्यता और मेरा हृदय ये सब मेरी लेखनी को यह प्रेरणा करते हैं कि आप की इस पृच्छा का उत्तर ' न कार में ' है । दर असल बात भी यही है, रामचंद्र की सी सामग्री ही इन के पास कहां ? जो अपने विनष्ट कुटुम्ब की वाहर करें ! ।

समुद्र उल्लंघन करना, राक्षसों के साथ घोरयुद्ध में भीडना और दुश्मन के वश पड़ी हुई अपनी प्राणप्रिया को लुडवाना यह सब एक मात्र रामचंद्र के ही भाग्यफलक में लिखा हुआ था, धनचन्द्र ! पुण्यहीन धनचन्द्र ! क्या तुम भी यह मनोरथ करते हो कि हमारी शान्ति प्रिया पीछी मिल जायगी ? नहीं ! तुम्हारी वह प्रिया गई, तुम्हारा वह कुटुंब कथाशेष हुआ, फिर मिलने की आशा नहीं । तुम्हारा भाग्यपट्टक सड गया है अब इस में सिर्फ ये अक्षर अवशिष्ट हैं कि—

‘ प्रियकुटुम्बघाती निर्दयमानव ! तुम्हारा भाग्यसूर्य अस्त हुआ अब दुर्भाग्य की रात्री में पडे पडे मृतकुटुंब के पीछे आंसु वहाओ और अपने पाप का प्रायश्चित्त करो ! ’

पाठकगण ! माफ कीजिये यह रूपक अनायास कुछ बढ गया है, आप का ज्यादा समय नहीं लेता हुआ प्रकृत इतिहास पर आता हूँ जरा ध्यान दीजिये ! ।

आप पढ चुके हैं कि विनती न होने पर भी धनविजयजी पीछे से बाघरे आ गये, इस बनाव से इन का तिरस्कार हुआ सही पर वे इसे गिनते कब थे ! ।

“ मियां गिरे तो भी टंगड़ी ऊंची ”

इस कहावत को वे चरितार्थ करना ठीक जानते थे, बाघरे आकर के भी इस कथन को वे सफल करने की चेष्टा करने लगे । अपनी संमति विना निकाले गये मुहूर्त को उन्होंने ने दूषित ठहराया, एक पूंछ छोड के दूसरी पकड़ी, अपनी क्रिया मनाने का कदाग्रह छोड के मुहूर्त को सदोष ठहराने का दुराग्रह पकड़ा, पर फायदा क्या हुआ ? प्रतिष्ठा करने कराने तथा उस में सामिल होने वालों को मरण का भय बताया, उपद्रव का भय बताया और जितना हो सका लोगो के हृदय में बहम के अंकुरे उत्पन्न किये ।

इधर मुहूर्त देने वाला श्रीमाली जोषी भी धनविजयजी से पढ़े वैसा नहीं था, ज्यों ज्यों वे उपद्रव और मरण का भय बताते त्यों त्यों वह शर्तों के साथ इन का अभाव बताने लगा, बहुत धांधल मचा, आखिर जालोर, आहोर विगैरह गांवों से ज्योतिषी पंडित बुलाये गये, उन के पास सत्यासत्य का निर्णय कराया गया तो उन्होंने ने भी सं० १९७२ के माघ शुदि १३ का मुहूर्त निर्दोष ठहराया और धनविजयजी का कहना झूठा सिद्ध किया ।

अब क्या कहना रहा ? इस बनाव से तो उन की गर्मी हद

बाहर हो गई, मन वश नहीं रह सका, ब्राह्मण पंडितों को गालियों का सिरपाव, मोहनविजयजी को गालियों की अनुवंदना और वाघरा के श्रावकों को दुराशिषों का धर्मलाभ प्रदान कर के वहां से रफू चकर हुए, गांव वालों ने बहुत नम्रता के साथ रोके पर सब निकम्मा ! चले सो चले ही गांव 'सांथु' जाके पग टेका ।

इतना होने पर भी इस मूर्ति को शान्ति कहाँ ? वाघरा छोड़ा पर क्रोध मानादि दुर्गुण तो नहीं छोड़े !, सांथु गये तो भी प्रतिष्ठाविषयक वक्वाद् धनविजयजी के मुख में दिन दुना रात चौगुना होने लगा ।

“ प्रतिष्ठा करने वाला साधु 'मोहनीया' मर जायगा, कलश चढ़ाने वाला शिखर से गिर पड़ेगा, ध्वजा दंड चढ़ाने वाला भी मर जायगा, जीमन करने वाला और खाने वाले सब मर जायेंगे ”

इत्यादि उन्मत्त प्रलाप इन के मुख से यथेच्छ निकलते और सुनने वालों के हृदय में अपूर्व हास्य रस को पुष्ट करते थे ।

ऊपर मुजब के प्रलाप भी जब निष्फल जाने लगे, प्रतिष्ठा की तय्यारी झपाटाबंध होने लगी तब बुढ़े ने जाना कि अब तो बाजी जाती है तो वे खूब व्याकुल हुए, नौका के डूबते समय जीवनाथी मनुष्य चारों ओर व्याकुलदृष्टि से जिस प्रकार आलंबन खोजते हैं इसी प्रकार धनविजय जी इस आपत्ति के समुद्र को तेरने का उपाय अहर्निश खोजने लगे और—

“ जिनो रक्षतु मे यशः ”

इस मंत्र का जाप जपने लगे ।

आखिर जरद्हृदय में यह नया विचार उत्पन्न हुआ, उन्हों

ने यह सोच के कि—‘ अब तो गांव के ठाकुर को उलटा भीड़ाये विना मेरा निस्तार नहीं है— अपने ताबेदार ‘ शिरेमल ’ नामके गांव सायला के गृहस्थ यति को जोधपुर ‘ दासपा ’ ठाकुर के पास भेजा और उस के द्वारा उन को अपने रोदन सुनाये, मरण का भय सुनाया, उपद्रव का भय बताया, पर जो पृथ्वी को पालना जानता है, धर्माधर्म का फल मानने वाला है ऐसा एक दाना क्षत्रियपुत्र इस प्रकार के कंगले वचनों से क्या डर जायगा ? ’ अगर ऐसा ही तो उसकी जाति को कलंकित ही समझना चाहिये । वह क्षत्रिय वीर इस क्लीबोचित वचनों से तनिक भी नहीं डर के अपनी अचल प्रतिज्ञा-पहले दिये हुए प्रतिष्ठा में रोक टोक नहीं करने के वचन को पालने में तत्पर रहा ।

साथ ही ‘ इतो व्याघ्रस्ततस्तटी ’ इस प्रकार के संकट में सपड़ाये हुए इस बुढ़े की भी उस दयालु राजपूत को दया आई, तब अपने वाघरे गांव के हवालदार को लिख दिया कि ‘ धनविजयजी को भी वाघरा के महाजन प्रतिष्ठा में सामिल रखे तो ठीक ही है, ’ यह ठाकुर साहब का लिखना हुकमरूप नहीं पर सलाह मात्र था, और इस मुजब करने को तो वाघरा वाले पहले ही से तय्यार थे । अतएव वाघरासे १०-१५ श्रावक सांथु गये, धनविजयजी की शरतों को मानने के बदले उलटी अपनी तर्फ से कितनीक शरतें उन्हें कबूल कराके ले आये ।

प्रतिष्ठा भी की, अपना मतलब भी किया और आखिरकार श्रावकों की तर्फ से गालियों का शिरपाव पा कर वाघरा से बिदा हुए ।

लेखक जी ! क्या यह सारी की सारी हकीकत जैन धर्म की

हांसी-मस्खरी कराने वाली नहीं है ? , यह आप का ' परोपदेशपांडित्य ' नहीं कि आपके गुरु तो मन आया बके तो भी वह हांसी मस्खरी करने वाले नहीं और दूसरा कोई योग्य बात कहे तो भी उसे हांसी-मस्खरी कराने वाला कहना ? वाह जी वाह ! पक्षपात के काले चश्मे तो ठीक पहिने हैं ।

लेखक जी ! जैनभिक्षुजी हमेशा सब के घोड़े दौड़ाते हैं और वे आसानी से सुगति के सुख को भोगेंगे, कारण कि सत्यवक्ता सदा ही सुगति का भागी होता है यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है । हां जो गप्पवादी हैं, अपनी सारी जींदगी ही प्रपंची कामो में बीताते हैं उनका तो डेरा अवश्य रत्नप्रभा आदि विशालभूमियों में ही होगा,

जैनभिक्षु सरीखे सरलहृदयी मनुष्यों का ऐसा कर्म कहां जो वे उक्त स्थानों की सफर करें ! ।

फिर लेखक अपनी साधुता का परिचय देते हैं कि—

“ राजेन्द्रसूरिजी के इने गिने १०-१५ साधु हैं तो जैनभिक्षुजी के अंधगुरु अंध श्रद्धा के एक दो ही इने गिने होयगे ! ! जे कर कहों कि अंधगुरु के शिष्य ने तो पीत (पीला) वस्त्र धारण किया जिस से इन के पक्षी साधु अनेक हैं ! इने गिने नहीं हैं ! तो श्रीराजेन्द्रसूरिजी के भी श्वेताम्बर (सपेतवस्त्र) के धारणे वाले साधु अनेक हैं जिस लिये इने गिने नहीं कहे जावेंगे ! ”

लेखक जी ! ग्रामशार्दूलों की तरह अपने नियत गड्डों में ही न भरा कर जरा तलाश कीजिये कि जैनभिक्षु जी के गुरु अंध हैं कि देखते ? वे अंधश्रद्धालु व्यक्ति हैं कि सारग्राही ? और उन के साधु इने गिने एक दो ही हैं कि एक दो बीसी ? और

इस बात की भी खोज करें कि कई पीढ़ियां वर्णपरावर्तित वस्त्र धारण करती आई हैं या आज कल का ही यह वर्ताव है ? न मालूम ऐसा उटपटांग लिखमारना लेखकों ने किस गुरु से सीख लिया होगा ? ।

लेखक कहते हैं कि—

“ श्वेतवस्त्र वाले सब साधु राजेन्द्रसूरिजी के ही हैं ”

मैं नहीं समझ सकता कि सर्व श्वेताम्बर साधुओं को लेखक राजेन्द्रसूरिजी के किस न्याय से कहते हैं ? प्रथम तो वर्तमान में श्वेतवस्त्र धारी कहलाने वाले साधु ही वे हैं जो प्राणातिपातादि पांच प्रकार के आश्रवों में लगे रहते हैं और मारे लोभ के गांव र भटकते फिरते हैं क्या उन्हें भी लेखक राजेन्द्रसूरिजी के साधु मानते हैं ? ।

शायद मान भी लें पर यह भी होवे कैसे ? ।

राजेन्द्रसूरिजी से तो ये लोग भी इस कदर नफरत करते हैं जैसे उल्लूसे कौंभे ! ।

यदि पायचंद या अंचलगच्छ के साधुओं को लेखक राजेन्द्रसूरिजी के मानते हों तो यह भी अन्याय है, उनका मत दूसरा उनकी क्रिया जुदी तो उल्लू के सिवा दूसरा कौन उनको अपना कह सकता है ? ।

यदि श्वेत वस्त्र से ही लेखकों को उनका मोह लगा हो तो उन के साथ आहार-पानी, वंदनादि व्यवहार क्यों नहीं करते ? क्यों लेखकजी ! अब तो आप के सूरिजी के इने गिने १०-१५ साधु है यह सिद्ध हुआ कि नहीं ? ।

फिर लेखकजी बयान करते हैं कि—

“ पहिले राजेन्द्रसूरिजी को गुरु मान के उन की समाचारी का वर्ताव में वर्त के तिनकी हितशिक्षा की तर्जना के मारे उन का गुरु पद छोड और को गुरु करना ! वा मुख से तो कहना हमारे राजेन्द्रसूरिजी गुरु हैं और तिन की लिखित समाचारी [कलमों] के मुजब नहीं वर्तना अपने मनमानी समाचारी करना वैसे साधुओं का घरकी यह समकित देने की विधि जैनभिक्षुजी ने छपवाई है परंतु खास राजेन्द्रसूरिजी के साधुओं की यह समकित दान (देने) की विधि नहीं है किंतु गच्छबहार के साधुओं की है ! ”

लेखक जी ! पहले मेरे इस प्रश्न का उत्तर दीजिये कि अंगारमर्दकाचार्य को उस के पांच सौ शिष्यों ने क्यों छोड दिया ? जमाली को उस के परिवार के साधुओं ने किस लिये त्याग दिया ? ।

कहोगे कि वें तो क्रमशः अभव्य और निन्हव थे ! तो यहां भी जानलो कि जब तक किसी को यह मालूम न हुआ कि ‘ राजेन्द्रसूरिजी शास्त्रविरुद्ध चलते हैं ’ सब उन के कहने में चलते रहे, पर जब यह बात समझ में आ गई कि राजेन्द्रसूरिजी का मत शास्त्रसंमत नहीं है तब तो उन के मत का और गुरूपद का त्याग अवश्य करना ही चाहिये ! क्या भवभीरु जीवों को यह उचित है कि ‘ गधे की पूंछ पकड़ी सो पकड़ी, चाहे दांत भी गिर जायँ पर उसे छोडना नहीं ?, ’ नहीं २ यह बात अच्छी नहीं है, संसार में वह मनुष्य मूर्ख कहलाता है; जो अपनी तुच्छ बुद्धि से असत्य वस्तु को सत्य मान लेता है, और उसका भी शिरोमणि वह है, जो असत्य को असत्य जानके भी उस को सत्य कह कर पकडे रहता है ।

मैं क्या सारा संसार उन महानुभाव पुरुषों की स्तुति करता है; जो झूठी मान्यता को जलांजलि देकर सत्यवस्तु का स्वीकार करते हैं, लेखक भी यदि सत्यग्राही होने का दावा करते हों तो चाहिये कि वे भी राजेन्द्रसूरिजी का गुरु पद छोड़ के किसी महापुरुष को गुरु कर लें ।

यद्यपि लेखकों के गुरु धनविजयजी ने तो उनका गुरुपद कभी का छोड़ दिया हुआ है; तथापि खेद की बात है कि अभी-तक उन्होंने ने अपना अभिमान छोड़ के किसी भी दूसरे मुनिराज का गुरुत्व नहीं स्वीकारा ! । मैं बारबार धनविजय जी से प्रार्थना करता हूँ कि वे किसी महात्मा के पास उपसंपद् धारण कर के वीतरामदेव के वचनों के आराधक बनें, न जानें यह क्षणविनश्वर देह किस वक्त मिट्टी में मिल जायगा, इस का क्षणमात्र विश्वास न कर के जिनाज्ञाराधक होना ही बुद्धिमान्नी का लक्षण है ।

पाठकवृन्द ! देखिये और सोचिये कि ' मुखसे तों कहना हमारे राजेन्द्रसूरिजी गुरु हैं और तिन की लिखित समाचारी (कलमों) के मुजब नहीं वर्तना ' यह लेखकों का लेख किन के लिये है ? इस प्रकार ये लोग किस वास्ते आंसु गिराते हैं आप समझे ? अगर नहीं समझे हों तो सुनिये—यह अश्रुपात है उन के निजघर के पीछे ! उन के घर में ही बड़ी फूटफाट हो रही है, इन के परिवार के ही साधु लेखकों के वर्तमानाचार्य का हुक्म नहीं मानते, बस इसी दुःख का यह रुदन है, और यही कारण है कि समकित दानविधि का दोषारोपण लेखकों ने उन के ऊपर मंदा है, बाकी वास्तव में तो लेखकों के घर में भी समकित दान विधि वही है जो जैनभिक्षु ने लिखा है ।

फिर लेखक जी अपनी अज्ञता जाहिर में लाते हैं कि—

“ व्यवहार समकित के लिये विना पिताम्बरी साधु जो व्रत पञ्च-
कखाण देशविरतीपणा सर्वविरतीपणा लेते देते हैं वे सब परमात्मा के
शासन को नष्ट करने वाले हैं ”

लेखकों ने किस पीताम्बरी साधु को देखा कि सम्यक्त्व
विना देशसर्वविरत्यादि किसी को दिया ? एक दो नाम तो
लिख देने थे ! ।

लेखक जी ! अभी तक तुम गृहशूर हो, इस बात की तुम्हें
खबर नहीं कि उन का-जिन की आप ' पीताम्बरी ' कह कर
घृणा करते हैं-कैसा सुंदर व्यवहार है, वे किस रीति से लोगों
को धर्म ग्रहण कराते हैं, अगर आपने किसी भी परंपरागत
साधु की सेवा का लाभ प्राप्त किया होता तो यह कहने का कभी
मौका न आता कि वे सब परमात्मा के शासन को नष्ट करने
वाले हैं. ।

वे परमात्मा के शासन को नष्ट करने वाले नहीं हैं, नष्ट
करने वाले वे हैं; जो मनुष्य की लयाकत देखे विना उसे प्रतिज्ञा
करा देते हैं कि ' अमुक कार्य नहीं करना, ' पर यह नहीं सोचते
कि इस का नतीजा क्या होगा ? कई त्रैस्तुतिकश्रावकों की यह
दशा आंखों देखी जाती है कि पहले तो सम्यक्त्व विगैरह लेकर
इस कदर सिद्धाई बताते हैं; कि मानों आनंद श्रावक कहे सो तो
यही है, पर जब कोई निर्जीव भी कारण उपस्थित होता है तो
मामा, माता, क्षेत्रपाल आदि मिथ्यात्वी देवों के आगे भी शिर
झुकाते हैं, और उन्हें बलिदानादि करते रोते फिरते हैं ! ।

लेखक महाशय खयाल करें कि आप की कराई हुई प्रतिज्ञा
की क्या दशा हुई ? उस का समूल नाश हुआ कि कसर रही ? ।

यदि कहा जाय कि यह तो उसने उन देवों की पूजा मान्यता सांसारिक कार्य के निमित्त की है; तो जवाब यह है कि दूसरा कौन मोक्ष के निमित्त उन्हें पूजता है ? जिसने आप का सम्यक्त्व नहीं लिया वह भी अगर किसी निमित्त पर उन्हें याद करेगा तो सांसारिक दृष्टि से ही, यह तो वह कहता ही नहीं कि 'मोक्ष प्राप्ति के अर्थ मैं इन मिथ्यात्वी देवों की पूजा करता हूँ' और यह भी तो कोई कहता नहीं कि सांसारिक कार्यों के लिए भी मिथ्यात्वी देवों की पूजा निर्दोष है ! ।

कहने का मतलब यह है कि विना सोचे समझे १०-१२ वर्ष के बालकों को और अज्ञानी लोगों को पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करवाना भूल है, क्यों कि वे उसे पाल नहीं सकते । आखिरमें उस नियम को खंडित करके आप ही के मत से महापापी बनते हैं, क्यों कि तुम्हारे ही मत वाले कहते हैं कि 'व्रत नहीं लेनेवाला पापी, और लेकर खंडित करने वाला महापापी,' फिर बेचारे उन अज्ञानियों को जानबूझ के महा पापी क्यों बनाते हो ! ।

यह दशा तो हुई देशविरति की, अब सर्वविरति के भी कुछ हालात सुन लीजिये, साधुपन (सर्वविरति) भी ये लोग जिस तिस पामर मनुष्य को भी दे देते हैं नतीजा यह आता है कि जब मुल्क में सुकाल हो जाता है पेट भरने का उपाय सुलभ होता है तब वे दुकालिये पेट के पूजारी अमूल्यचिन्तामणितुल्य चारित्र के उपकरण-रजोहरण, मुहपत्ती विगैरह को कहीं कूँए आदि में फेंक के अपना रस्ता लेते हैं-भाग जाते हैं । इस प्रकार का बनाव वर्ष भर में दो चार वक्त तो बन ही जाता है, और जैनधर्मकी बड़ी निन्दा होती है, जब कोई शासनरागी उन को

कहता है कि ' इस प्रकार धर्म की हानि करने वाला कार्य आप को नहीं करना चाहिये ' तो वे उत्तर देते हैं कि ' तुम इस बात में क्या समझो ! साधुओं का तो यही धर्म है, ज्यों त्यों करके भी संसारी को संसार छोड़ाना चाहिये, योग्याऽव्योग्यत्व की परीक्षा देखने को जावें तब तो काम पार ही कैसे जावे ! जो हो सो हो, उसे मुंड तो लेना ही चाहिये, पीछे वह अगर चला भी जायगा तो इस में हानि क्या है ? जितना समय चारित्र्य पालेगा वह तो कहीं जाने का नहीं ? कुम्हार निवाह पकाता है तो यह तो होता ही नहीं कि सभी बर्तन अखंड पक जायँ, कितने फूटते हैं, कितने कच्चे रहते हैं, और कितने पकते हैं । इसी प्रकार यहां पर भी समझलो !, कोई भगेगा कोई मूर्ख रहेगा और कोई अच्छा भी निकलेगा । '

प्रियपाठकगण ! देख ली राजेन्द्रसूरिजी की मान्यता ? है ' तीन लोक से मथुरा न्यारी ' कि नहीं ? , भला, इतना ही नहीं—ये लोग विना आज्ञा जिस तिस को मुंड लेते हैं यही बात नहीं, आज कल के आरंभी यतियों की मवाफिक सेंकड़ों रुपया दे कर लडकों और आदमियों को खरीदवाना भी नहीं भूलते ! इस विषय में अनेक दफे सत्य हकीकत सुनी गई है ।

मिसाल—

राजेन्द्र सूरिजी के एक भक्त श्रावक का लिखा हुआ खत मुझे मिला है, उस का संक्षिप्त सार यह है कि—

“ महाराज राजेन्द्रसूरिजी की आज्ञा से रु. २००) दो सौ मेरे पास के ज्ञान खाते के और १५०) सा. सुरतीगजी मनाजी गांव हरजी वालों की तर्फ से तथा, ५०) वडनगर—मालवा वाले बालुजी के,

एवं ह. ४००) चार सौ नाई 'माना' के घर वालों को दे के माना को संवत् १९४१ के द्वितीय जेठ सुदि ३ तीज के दिन गांव शिवगंज में राजेन्द्रसूरिजी का शिष्य बनवाया ”

अगर किसी को इस बात में शंका हो तो वे मेरे पास रहे हुए असली खत को देख लें, उस में साल, तिथी, नांव वि-गैरह सभी बातें खुलासे वार लिखी हैं ।

दूसरा यह कि जिसको ये लोग दीक्षा देते हैं उस के संबंधियों की आज्ञा की भी परवा नहीं करते, आज्ञा मिल गई तो ठीक नहीं तो चुप चाप रीति से भी उसे मुंड ही लेते हैं जिस का नतीजा यह आता है कि उस के संबंधियों को खबर पहुंचते ही वे आकर ओघा, मुहपत्ति दूर फेंकते हैं और चारित्री को फिर गृहस्थ वेश पहिना के घर पै ले जाते हैं, इस विषय के भी अनेक दृष्टान्त हैं, आहोर कस्बे के त्रैस्तुतिक श्रावक जवानमलजी बूटा के पुत्र 'मोतीचंद' को राजेन्द्रसूरिजी ने गांव 'भेंसवाडे' में इसी प्रकार से गुप्त दीक्षा दी थी और दीक्षित का बडा भाई 'केशरमल बूटा' ओघा मुहपत्ति फेंक के उसे वापिस घर ले गया जो अभी तक संसार में बैठा है ।

अभी थोड़े ही महीनों की बात है, उसी जवानमलजी के पौते 'जसराज' ने राजेन्द्रसूरिजी के साधुओं के पास गुप्त रीति से दीक्षा ले ली और उस का काका मोतीचंद-जिसने पहले दीक्षा ली थी उसे पीछा घर ले गया । बड़े ही अफसोस की बात है, इस प्रकार बुरा नतीजा देख के भी ये अपनी बुरी रीतियों का परित्याग नहीं करते ! ।

पाठक महोदय ! जिन के घर में इतनी पोल है, चारित्र जैसे

अमूल्य रत्न को भी कुपात्र में नांखते जिन को तनिक मात्र विचार नहीं वे सम्यक्त्व को विना विचारे जहां तहां बेचते फिर इसमें तो आश्चर्य ही क्या है ? ।

लेखकजी ! जरा दिल में खयाल करो कि परमात्मा के शासन को नष्ट करने वाले पीतांबरी हैं कि राजेन्द्रमूरिजी के परिवार के मलिनाम्बरी ? ।

फिर लेखक अपनी अज्ञता की निशानी दिखाते हैं कि—

“ व्यवहार समकित देने लेने की मर्यादा तो जैनभिक्षु पीताम्बरी साधुओं के गुरुपरंपरा में ही नहीं है ? ”

लेखकों ने किस भव में जैनभिक्षु की गुरु परंपरा को देखा कि उस में सम्यक्त्व देने लेने की मर्यादा ही नहीं ? हां वैसे अंधाधुंधी तो नहीं है जैसी आप के मत में है, बाकी देशविरति, सर्वविरत्यादि देने के समय वह आलापक भी अवश्य ही पढा जाता है; जिसे तुम लोग सम्यक्त्व का पाठ कहते हो, न्याय से देखा जाय तो होना ही इसी मुजब चाहिये, समकित उच्चराने के बारे में जिन जिन शास्त्रों के नाम त्रिस्तुति वाले पुकारते हैं उन सब से यही सिद्ध होता है कि पहले भी प्रायः देशविरति वा सर्वविरति देने के समय में ही वह पाठ बोला जाता था न कि योग्यता विना ही त्रैस्तुतिकों की मवाफिक उसे पढ के समकित दे दिया जाता था ।

अगर ऐसा न होता तो किसी न किसी देवता के अधिकार में वह पाठ आना चाहिये था कि ‘ अमुक देवताने अमुक तीर्थकर गणधर, केवली या मुनि के पास सम्यक्त्व उच्चरा ’ क्यों कि देवता लोग देशविरती सर्वविरतीरूप चारित्र को नहीं पाल सकते; पर

सम्यक्त्व तो वे भी पाल सकते हैं ? फिर समकित्ती देवों के अधिकार में उन के सम्यक्त्व उच्चर ने का पाठ क्यों नहीं ? आप के मत मुजब तो अवश्य आना ही चाहिये था ! परंतु ऐसा तो कहीं भी नहीं दिखता, सिर्फ वहाँ उस पाठका उल्लेख है जहां साधु-श्रावकधर्म (सर्वविरति देशविरति) ग्रहण करने का अधिकार है, इस लिये लेखकों को कबूल करना होगा कि विना व्रत के केवल समकित उच्चराने का पाठ शास्त्र में नहीं दिखता ।

क्यों लेखक जी ! अब तो समझे न ? बस इसी लिये जैन-भिक्षु जी की परम्परा केवल पाठ सुना के लोगों को समकित्ती नहीं बनाती !,

यदि आप के पास इस से विरुद्ध-यानी व्रत विना भी केवल सम्यक्त्व उच्चराने का प्रमाण हो तो पेश कीजिये उस की समालोचना करने को हम तत्पर हैं ।

लेखकों को याद रहे कि जैनभिक्षु और उस के साथियों की ऐसी तो शास्त्रसंमत प्रवृत्तियाँ हैं कि आप तो क्या आप जैसे सहस्रों व्यक्तियाँ कटिबद्ध हो जायँ तो भी उन्हें नहीं तोड सकतीं !।

अब लेखक लोगों को उपदेश करते हैं—

“ अहो भव्यो ! आप लोग अपने २ कल्याण कर ना चाहते हो तो ऐसे जैनशासन की हिलना (निन्दा) के कराने वाले जैन भिक्षु का प्रसंग मत करो ”

मेरा भी यही कथन है—‘ जो मनुष्य अपना भला चाहे वह जिनमार्गबाह्य निह्व जैनभिक्षुओं का परिचय कदापि न करे ’ ।

“ ऐसे पीतवस्त्रधारी जैनभिक्षु ” इत्यादि ले के “ तिस की स्थापना करने को प्ररूपणा में कटिबद्ध हुये हैं ” यहां तक लेखकों ने

सिर्फ पिष्टपेषण किया है, क्यों कि यही बात इन्होंने ने पहले भी लिख दी थी, इस लिये इस का उत्तर भी पहले ही दे दिया गया है, लेखकों की तरह यहां फिर पिष्टपेषण करना मुझे रुचिकर नहीं ।

लेखक बार बार यह पुकारते हैं कि 'चतुर्थ स्तुति किसी भी जैनशास्त्र में नहीं कही' इस लिए चतुर्थस्तुति को सिद्ध करने वाले कुछ शास्त्रों के प्रमाण भी यहां लिख देता हूं ।

(१) “वैयावृत्यकराणां प्रवचनार्थं व्यापृतभावानां यक्षाभ्रकूष्माण्ड्यादीनां, शान्तिकराणां क्षुद्रोपद्रवेषु, सम्यग्दृष्टीनां सामान्येनाऽन्येषां समाधिकराणां, स्व-परयोस्तेषामेव, स्वरूपमेतदेवैषामिति वृद्ध-संप्रदायः, एतेषां संबन्धिनं-सप्तम्यर्थे षष्ठी-एतद्विषयम् एतानाश्रित्य करोमि कायोत्सर्गम् । कायोत्सर्गविस्तरः पूर्ववत् । स्तुतिश्च नवरमेषां वैयावृत्यकराणां, तथा तद्भाववृद्धेरित्युक्तप्रायम् ॥

(हारिभद्रीय ललितविस्तरा वृत्ति)

(२) “ पञ्चभिर्दण्डकैः, स्तुतिचतुष्केण, शक्रस्तवपञ्चकेन, प्रणिधानेन चोत्कृष्टा चैत्यवन्दनेति ”

(श्रीदेवसूरीय यतिदिनचर्या)

(३) “ तथा पञ्चदण्डकैः-शक्रस्तव, (१) चैत्यस्तव (२) नामस्तव (३) श्रुतस्तव (४) सिद्धस्तवारूयैः, (५) स्तुतिचतुष्टयेन, स्तवनेन, जय वीयरारयेत्यादि प्रणिधानेन च उत्कृष्टा । ”

(मानविजयोपाध्यायकृत धर्मसंग्रह)

(४) तथा सक्त्थयाइदंडगपंचग-थुईचउक्क-पणिहाणकरणतो संपुण्णा, एसा उक्कोसा । ”

(वन्दनकचूर्णि)

(५) “ एवं च शक्रस्तवपञ्चकं भवति, उत्कृष्टचैत्यवन्दनया वन्दितुकामः

साधुः श्रावको वा चैत्यगृहादौ गत्वा यथोचितप्रतिलिखितप्रमार्जित-
स्थण्डिलस्त्रैलोक्यगुरौ विनिवेशितनयनमानसः संवेगवैराग्यभरो-
ज्जृम्भमाणरोमाञ्चकञ्चुकितगात्रः प्राप्तप्रकर्षहर्षवशविसर्पद्वाष्पपूर-
पूर्णनयनलिनः सुदुर्लभं भगवच्चरणारविन्दवन्दनमिति बहुमन्यमानः
सुसंवृताङ्गोपाङ्गो योगमुद्रया जिनसंमुखं शक्रस्तवमस्खलितादि-
गुणोपेतं पठति, तदनु ऐर्यापथिकीप्रतिक्रमणं करोति,
ततः पञ्चविंशत्युच्छ्वासमानं कायोत्सर्गं कृत्वा पारयित्वा 'लोगस्सुज्जो
अगरे' त्यादि परिपूर्णं भणित्वा जानुनी च भूमौ निवेश्य मार्जित-
करकुशेशयस्तथाविधसुकविकृतजिनमस्कारभणनपूर्वं शक्रस्तवादिभिः
पञ्चभिर्दण्डकैर्जिनमभिवन्दते, चतुर्थस्तुतिपर्यन्ते पुनः शक्रस्तव-
मभिधाय द्वितीयवेलं तेनैव क्रमेण वन्दते, तदनु चतुर्थशक्रस्तवभण-
नानन्तरं स्तोत्रं पवित्रं भणित्वा 'जयवीरराय' इत्यादिकं च प्र-
णिधानं कृत्वा पुनः शक्रस्तवमभिधत्ते, इत्येषोत्कृष्टा चैत्यवन्दना
ऐर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्विकैव भवति, जघन्य-मध्यमे तु चैत्यवन्दने
ऐर्यापथिकीप्रतिक्रमणमन्तरेणापि भवतीति (भवत इति)”

(प्रवचनसारोद्धारवृत्ति ।)

- (६) “ इरि १ नमुक्कार २ नमुत्थुणं, ३
ऽरिहंतथुई ४ लोग ५ सव्व ६ थुई ७ पुक्ख ८ ।
थुइ ९ सिद्धा १० वेया ११ थुई १२,
नमो त्यु जावंति थय जयवी ॥ ६२ ॥
सव्वोवाहिविसुद्धं, एवं जो वंदए सया देवे ।
देविंदविंदमहिअं, परमपयं पावइ लहु सो ॥ ६३ ॥

(देववन्दनलघुभाष्य)

- (७) “ ततः ' सिद्धति '—सिद्धाणमित्यादि भणित्वा ' वेयत्ति '

वेयावच्चगराणमित्यादिना कायोत्सर्गः कार्यः, ततः ' शुई ति ' वेया वृत्त्यकरादिविषयैव चतुर्थी स्तुतिर्दीयते । ”

(भाष्यवृत्ति)

इन उपर्युक्त शास्त्र पाठों का अर्थ क्रमवार नीचे मुजब है—

- (१) वेयावच्च करने वाले यानी जिनशासन के विषे व्यापार (प्रवृत्ति) वाले, तथा क्षुद्रोपद्रवों के विषे समकित दृष्टियों और दूसरों के शान्ति के करने वाले, तथा समकितदृष्टियों के और स्वपर के समाधि करने वाले,—क्यों कि इन का स्वरूप (स्वभाव) ही यह है ऐसा वृद्ध पुरुषों का संप्रदाय है—यक्ष आम्र कुष्माण्डादि के संबन्धी (सप्तमी के अर्थ में पष्ठी हो ने से यह भाव कि) इन को आश्रित-अधिकृत-कर के कायोत्सर्ग करता हूं, कायोत्सर्ग का विस्तार पूर्व की मवाफिक जानना । इतना विशेष कि यहां स्तुति वेयावच्च करने वाले पूर्वोक्त देवताओं की कहनी, क्यों कि इसी प्रकार उन के भाव की वृद्धि होती है ।
- (२) पांच दंडकों से चारशुद्धियों से, पांच शक्रस्तवों से और प्रणिधान पाठ से उत्कृष्टचैत्यवन्दना होती है ।
- (३) तथा, शक्रस्तव १ चैत्यस्तव २ नामस्तव ३ श्रुतस्तव ४ सिद्धस्तव ५ नामक पांच दंडकों से, चार स्तुतियों से, स्तवन और प्रणिधान पाठ—' जय वीरराय ' इत्यादि से उत्कृष्ट चैत्यवन्दना होती है ।
- (४) तथा शक्रस्तवादि पांच दंडकों चार स्तुतियों और प्रणिधान के करने से संपूर्ण चैत्यवन्दना होती है, यही उत्कृष्टा कही जाती है ।

(५) पांच शक्रस्तव इस प्रकार से होते हैं—उत्कृष्टचैत्यवन्दना से देववन्दन करने की इच्छा वाला साधु वा श्रावक जिनमंदिर आदि में जाकर यथा योग्य प्रतिलेखित और प्रमाजित किया है स्थान जिसने, तथा नयन और मन जिसने त्रिलोकीगुरु (तीर्थकर) के विषे लगाया है, संवेग और वैराग्य के समूह से खड़े हुए रोमाञ्चों से जिसका शरीर छा गया है, प्राप्त हुए अतिहर्ष के वश निकलते हुए अश्रुजल से जिस के नयनकमल भर गये हैं ' भगवच्चरणकमल का वन्दन बहुत दुर्लभ है ' इस प्रकार बहुमान करता हुआ, अंगोंपांगों को अच्छी तरह जिसने संवरा है (ऐसा साधु वा श्रावक) योग-मुद्रा से भगवत्के आगे शक्रस्तव को अस्खलितादि गुणों सहित पढ़े, पीछे ईर्यावही पडिक्रम के पच्चीस श्वासोच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करे, पार के ' लोगस्सुज्जोअगरे ' इत्यादि संपूर्ण कहे, बाद दोनों जानु जमीन पर रख कर कर-कमल जोड़ के अच्छे कवियों के रचे हुए अपूर्व नमस्कार-स्तोत्र पाठपूर्वक शक्रस्तवादि पांच दंडकों से जिनवन्दन करे, चौथी थुई के अंत में फिर शक्रस्तव कह कर दूसरी बार भी इसी क्रम से वादे, बाद इस के चौथी बार शक्र स्तव कहने के अनंतर पवित्र स्तोत्र पढ़ कर ' जयवीराराय ' इत्यादि प्रणिधान पाठ कह के फिर शक्रस्तव कहे, इस प्रकार यह उत्कृष्ट चैत्यवन्दना ईर्यावहीप्रतिक्रमणपूर्वक ही होती है, परंतु जघन्य और मध्यम चैत्यवन्दना ईर्यावही विना भी होती हैं ।

(६) ईर्यावही, नमस्कार, नमुत्थुणं, अरिहंतचेइयाणं, स्तुति, लोग-स्स, सव्वलोए, स्तुति, पुक्खरवरदी, स्तुति, सिद्धाणं बुद्धाणं,

वैयावच्चगराणं, स्तुति, नमुत्थुणं, जावंति, स्तवन, जयवीय-
राय ॥ ६२ ॥ इस विधि से सर्वोपाधिविशुद्ध जो नित्य
देववंदन करता है वह जल्दी देवेन्द्रपूजित परम पद को
पाता है ।

(७) पीछे 'सिद्धाणं बुद्धाणं' पढ़ कर 'वैयावच्चगराणं'
इत्यादि से कायोत्सर्ग करना बाद 'थुई' यानी वैयावच्च-
करने वाले देवों की चतुर्थ स्तुति देनी (कहनी) ।

पाठकमहोदय ! आप देख सकते हैं कि उपर्युक्त शास्त्रपाठों
में कैसा साफ साफ चार स्तुतियों से देववंदन करना कहा है,
फिर जैनभिक्षु चार स्तुति की प्ररूपणा करने को कटिबद्ध क्यों
न होवे ? ।

इन पाठों से लेखक यह सिद्ध कर सकते हैं कि यह विधि
पूजा प्रतिष्ठादि कारण विशेषों में करने का है ?, नहीं, यह बात
ही नहीं, इन में तो उलटा यों कहा कि 'इस विधि से जो
निरंतर देववंदन करता है; वह जल्दी मुक्ति पद को पाता है ।'
(देखो प्रमाण ६ ठा)

यदि लेखकों की कल्पना मुजब यह विधि कारणिक होता
तो इस में 'सदा' शब्द क्यों आता ? क्या विशिष्ट कारण सदैव
बने रहते हैं ? ।

दूसरा यह कि उपर्युक्त चार स्तुति के देववंदन को मुक्ति
का कारण कहा है, खयाल करो ! अगर यह विधि पूजा-प्रति-
ष्ठादि विषय का मानें तो मुक्ति का कारण कैसे कहा जाय ?
क्यों कि पूजा-प्रतिष्ठादि कार्य जो लेखकों की मान्यता मुजब
द्रव्यस्तव है और द्रव्यस्तव का उत्कृष्ट फल बारवां देवलोक

की प्राप्ति है मोक्ष की नहीं ।

वास्तव तो यह है कि पूर्वोक्त देववंदन संबन्धी सर्व विधि-विधान साधु श्रावकों के यथाशक्ति नित्य करने के हैं, अत एव उन में एक जगह ' साधुः श्रावको वा ' इस प्रकार साधु श्रावक दोनों का ग्रहण किया है ।

फिर लेखक जी कहते हैं कि-

“ अब इस झूठा लेख का अंत में झूठी सूचना पूर्वक लेखको जैनभिक्षुजीने समाप्त किया है ! तिस का सत्य (सच्चा) प्रत्युत्तर दान पूर्वक ' सत्योत्तरदान लेख को ' हम भी समाप्त करते हैं ”

लेखक जी ! क्या ही अच्छा होता यदि जैनभिक्षुजी के लेख की सत्यता पर दृष्टि रख कर उस का उचित उत्तर देते !, न मालूम आप लोगों की ऐसी आदत क्यों पड़ गई है जो सरासर झूठा होता है उसे तो सच्चा कहना और सच्चे को झूठा ? । खैर, जैसी तुम्हारी मरजी ।

पर याद रहे कि आपकी इन झूठी करतूतों को सहन कर लेने का जमाना हाल का नहीं है, ज्यों ज्यों आप की असत्य करतूतों की विषवृष्टि होगी त्यों ही त्यों उस के ऊपर सत्यदलीलों की अमृतमय वृष्टि भी होती रहेगी ।

फिर लेखक अपनी अकल का नमूना दिखाते हैं-

“ अब जैनभिक्षु जी सब हिंदुस्थान के जहां २ ' शब्दोपलक्षित ' स्थानों की साबुतियां दे के अपना लेख सच्चा करें ! तब तो इन के आत्माका उद्धार होय नहीं तो अपनी झूठी जीभडली अपना हाथ से उद्धार करें जब उद्धार होय ”

जैनभिक्षु जी का कथन यथार्थ है, जब राजेन्द्रमूरिजी ने

जालोर में प्रतिमा ऊपर का लेख घिसवाया, गांभ कोरटे और गुड़े में घिसवाने का उद्योग किया तो यह शंका हो सकती है कि उनने ओर जगह भी इस प्रकार अनुचित व्यवहार किया होगा वस्तुतः किया ही होगा परंतु उन के अंधभक्त अपने गुरु की अपकीर्ति होने के डर से उस बात को बाहर नहीं लाते ।

लेखक जैनभिक्षु जी की जीभ का उद्धार कराया चाहते हैं, मेरी राय है कि यह काम आप के लिये ही लाभकारक है, क्यों कि उद्धार उसी चीज का होता है जो टूट-फूट गई हो या किसी प्रकार अपवित्र हो गई हो, जैनभिक्षु के सत्य लेख को असत्य कह कर आप की जीभ ने जो अपवित्रता उठाई है; मेरे ख्याल से उस अपवित्रता से इस का उद्धार होना ही चाहिये, पर बात कुछ विचारणीय है, दांतों के उद्धार का उपाय बुद्धिमानों ने निकाल दिया, आंखों का उद्धार भी देखा गया है, लेकिन जीभ का उद्धार किस प्रकार करना इस विषय में अभी तक किसी की बुद्धिने काम नहीं किया, तो लेखकों की इस अपवित्र जिह्वा का उद्धार होगा कैसे ?, शासनदेव करे इस का भी उपाय कहीं निकल जाय ! ।

यहां तक लेखकों ने जैनभिक्षु के ' कोरटा तीर्थ ' शीर्षक लेख के पीछे टाँय टाँय किया जिस का मैंने माकूल जवाब दे दिया ।

अब लेखक जी ' अंधश्रद्धा का नमूना ' इस लेख की समा-लोचना करते हुए अपनी बुद्धि का परिशिष्ट खजाना खोलते हैं । मैं भी इन के जौहरों की कीमत करने के लिये तय्यार हूँ ।

पहिले इस बात का इतिहास जानना जरूरी है कि ' अंध-

श्रद्धा का नमूना ' इस लेख का जन्म कैसे हुआ ?, आप की इस जिज्ञासा की तृप्ति के लिए कुछ लिख देता हूँ, आप गौर से पढ़ें ।

' कोरटा तीर्थ ' शीर्षक लेख ने त्रैस्तुतिक समाज में एक उच्चाटन मंत्र की गरज सारी, इस का पाठ या श्रवण करते ही वे लोग मारे जलन के चिल्लाने लगे, क्रोध से व्याकुल होने लगे और बावरे हो कर इधर उधर दौड़ने लगे, पर निष्फल ! इस का प्रतीकार करने वाला कोई उस्ताद नहीं मिला और न इन को शान्ति मिली, तब ' बाली ' निवासी ' ताराचंद्र ' नामक एक व्यक्ति को अपने समाज की दया आई, वह जानता कुछ भी नहीं लेकिन

“ निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ”

इस कहावत को याद करके प्रतिमंत्र चलाने को प्रवृत्त हुआ । पर उसने यह तो जान लिया था कि जैनभिक्षु के लेख का खंडन करना मानों लोह के चणे चाबणे हैं—इस का उत्तर देना हमारी शक्ति के बाहर है—तब क्या उपाय किया कि उस लेख के पोइंटों (विषयों) को छोड़ कर मात्र राजेन्द्रमूरिजी की तारीफ के दो फिकरे लिख दिये—छपवा दिये—और यह मान के राजी हो गये कि ' जैनभिक्षु ' के लेख का खंडन हो गया ! ।

इस राजेन्द्रमूरिजी की स्तुति से—'अज्ञान अंद घोर मारवाड़' शीर्षक लेख से—उन की अशक्ति देख के जैन-भिक्षु ने भी उन अशक्त-गरीबों-पर लेख द्वारा भी विशेष आक्रमण करना उचित न समझ कर ' ढांक पिछोडा किस का नाम ' इस हेडिंग के एक छोटे से लेख में उन का ढांक पिछोडा खुला कर के विराम ले लिया ।

यद्यपि जैनभिक्षु ने दया की खातिर लेख में इन का अधिक मर्मवेध नहीं किया—इन का पीछा छोड़ दिया, पर कई शासन

प्रेमी सज्जनों को यह दया अस्थान मालूम हुई, चाहे जैसे गरीब तो भी आखिरकार तो दुर्जन ! इन की दया करना किस के घर का न्याय ? इसी वक्त तखतगढ़ निवासी श्रावक चिमनलाल जी पेरजजी ने 'अंधश्रद्धा का नमूना' शीर्षक एक विस्तृत लेख दे कर उस राजेन्द्रस्तुति (अज्ञान अंधघोर मारवाड) लेख के एक एक पोंइंट का युक्ति और प्रमाणों द्वारा प्रत्युत्तर दिया जो ता. २१ फरवरी सन् १९१५ के 'जैन' पत्र में आप ने देखा होगा ।

बस उसी लेख के खंडन में नवीन लेखक जी प्रवृत्त हुए हैं। आप देखें कि शेर के शिकार में लगे हुए गीदड़ की क्या दशा होती है ! ।

अटकलपचू लेखक जी लिखते हैं कि-

“ इस ' ढांक पच्छेडा ' लेख से इतना पत्ता लगा कि कोरटा तीर्थ का झूठा लेख लिखने छपाने वाला यह जैनभिक्षु है ! परंतु पूरा पत्ता तो ता. २१ फेब्रुवारी सन् १९१५ का जैन अंक में 'अंधश्रद्धा का नमूना' हेडबिल में महाशय ताराचंदजी का लेख की झूठी समालोचना कर लेखक चिमनलाल तखतगढ़ वाला का नाम से छपवाया, तिसी से मालूम भया कि अंधगुरु का उपासक शिष्य का शिष्य ने यह लेख छपवाया है तब ही 'अंधश्रद्धा का नमूना' समालोचना का स्थान पर-विषमालोचना प्रकट की है ”

यह लेखकों की मान्यता सरासर झूठी है कि 'कोरटा तीर्थ' 'ढांक पिछोडा किस का नाम' और 'अंधश्रद्धा का नमूना' ये तीनों ही लेख एक व्यक्ति के लिखे हुए हैं, यह तो बच्चा भी समझ सकता है कि 'ढांक पिछोडा' और 'अंधश्रद्धा का नमूना'

इन दोनों का लेखक अगर एक होता तो उसे दो लेख देने की जरूरत ही क्या थी ? 'अंधश्रद्धा का नमूना' इस का विषय 'टांक पिछोडा' इसी लेख में क्यों नहीं दे दिया ? एक लेख में कुछ भी न लिख कर वही लेखक उसी विषय में दूसरा लेख देवे यह तो कमअकू के सिवा कोई भी नहीं मान सकता ! ।

लेखक जी ! जरा आंखों के पड़दे और हृहय का कवाट खोल के देखो और तलाश करो कि 'अंधश्रद्धा का नमूना' लेख किसने छपवाया है ? विना ही तपास किये किसी का बहेम धरना अधम और बेवकूफ आदमियों का काम है ।

'अंधश्रद्धा का नमूना' लेख के लेखक ने 'ताराचंद्र' के लेख की ऐसी तो युक्तिपूर्ण समालोचना की है कि तुम सारे त्रैस्तुतिक इकट्ठे हो कर तलप पडो तो भी उसका निराकरण नहीं हो सकता । तुम चाहे उसे विषमालोचना ही कहो, क्यों कि जो विषय जिसके लिये अतिकठिन होता है वह उस के आगे विषम ही है, यह समालोचना भी तुम्हारे लिए उसी प्रकार की है अतः तुम इसे विषमालोचना ही कहिये ! ।

फिर लेखक अपनी बुद्धि का प्रकाश करते हैं कि--

“पूर्वाचार्य नवांगवृत्तिकारक-श्रीमदभय-देवसूरिजी महाराज पंचाशक सूत्रवृत्ति में 'चतुर्थ स्तुति: किलार्वाचीना' इस वाक्य में (किल) अव्यय का जितना अर्थ व्याकरण, कोश, या जैन शास्त्रों में किया है—तिन सर्व अर्थ से चोथी थुई अर्वाचीन (नवीन) ही सिद्ध होती है ”

'श्रीमद् अभयदेवसूरिजी ने चतुर्थ स्तुति को अर्वाचीन कहा है' यह कहने वाले झूठ के पूतले हैं, अभयदेवसूरिजी ने

किसी जगह ऐसा नहीं कहा कि 'चतुर्थं स्तुति नयी है' त्रेस्तुतिक लोग "चतुर्थस्तुतिः किलावाचीना" इस प्रकार के अक्षर देख के कूदने लग जाते हैं कि अहा ! 'अभयदेवसूरिजी चौथी थुई को नयी कहते हैं,' परंतु उन भोले आदमियों को यह खयाल नहीं कि यह वचन अभयदेवसूरिजी का मान्य सिद्धान्त है या वे किसी का मत प्रदर्शित करने के लिये ऐसा लिखते हैं ? ।

पाठकगण ! आप देख लीजिये पंचाशक वृत्ति के उस पाठ को जिसे तीन थुई वाले अपना मतपोषक समझते हैं,—

“ चतुर्थस्तुतिः किलावाचीना, किमित्याह—उत्कृष्यते इति उत्कर्षा उत्कृष्टा । इदं च व्याख्यानमेके—

तिन्नी वा कट्टइ जाव, थुईओ तिसिलोइया ।

ताव तत्थ अणुन्नायं कारणेण परेण वि ॥

इत्येतां कल्पभाष्यगाथां, पणिहाणं मुत्तमुत्तीए इति वचनमाश्रित्य कुर्वन्ति ”

भावार्थ—चतुर्थस्तुति शायद अर्वाचीन है, इस से क्या होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि 'उत्कृष्टा' यानी पूर्वोक्त विधि से उत्कृष्ट चैत्यवंदना होती है, यह व्याख्यान आप किस शास्त्र के आधार से करते हैं ? इस प्रश्न की उपस्थिति के पहले ही आप समाधान कर देते हैं कि यह व्याख्यान 'तिन्नी वा०' इस गाथा तथा 'पणिहाणं०' इस वचन का आश्रय ले के कोई आचार्य करते हैं, अर्थात् हम ऐसा व्याख्यान नहीं करते, अन्य कोई एक आचार्य करते हैं ।

इस से साफ २ यह सिद्ध हुआ कि 'चतुर्थस्तुतिः किलावाचीना' यह वचन अभयदेवसूरि अपनी तरफ से नहीं कहते

किंतु दूसरे किसी एक आचार्य का मत दिखाने के लिए लिखते हैं ।

आचार्य आप इस व्याख्या में सहमत हैं कि नहीं इस शंका का समाधान भी आचार्य के ही वचन से हो जाता है, क्यों कि 'चतुर्थस्तुतिः किलार्वाचीना ' यहां पर ' किल ' शब्द का प्रयोग कर के उक्त व्याख्या में आप अपनी अरुचि जाहिर करते हैं, क्यों कि आचार्य श्रीमदभयदेवसूरि जी शुद्धपरंपरा मार्ग गामी पुरुष थे, उन को शास्त्र-विरुद्ध कल्पना पसंद नहीं थी, वे पूर्वाचार्य कृत चैत्यवंदनभाष्यादि ग्रन्थों को मानने वाले थे, इस विषय में आपका सिर्फ एक ही वचन उद्धृत कर दिखाता हूं, ता कि आप समझ लेंगे कि वे पूर्वाचार्यकृत ग्रन्थों को कैसे प्रमाण करते थे !,—

“ तथा संवेगादिकारणत्वादशठसमाचरितत्वाज्जीतलक्षणस्येहापद्य-मानत्वाच्चैत्यवन्दनभाष्यकारादिभिरेतत्करणस्य समर्थितत्वाच्च तदधिकतर-मपि तन्नाऽयुक्तम् । नच वाच्यं भाष्यकारादिवचनान्यप्रमाणानि, तदप्रा-माण्ये सर्वथाऽऽगमानवबोधप्रसङ्गात् ।”

(पञ्चाशकप्रकरणवृत्ति , पत्र १७)

अर्थ—(सूत्र में चैत्यवंदन एक ही प्रकार का कहा है तो उस के जघन्यमध्यमादि भेद क्यों पाड़े गये हैं ? इस पूर्वपक्ष का उपर्युक्त पाठ से आप उत्तर देते हैं—)—संवेग आदि गुणों का कारण होने से, अशठ पुरुषों का माना हुआ होने से जीत व्यवहार के लक्षण से युक्त होने से और चैत्यवंदनभाष्यकार आदिने इस का समर्थन करने से अधिकतर (ज्यादा अधिक) भी चैत्यवंदन अयुक्त नहीं है, भाष्यकार आदि के वचन अप्रमाण हैं यह भी

नहीं कहना, क्यों कि उन के अप्रामाण्य में आगमशास्त्रों का बोध ही किसी प्रकार नहीं हो सकेगा ।

प्रिय पाठक ! इस से आप समझ सकते हैं कि आचार्य अभयदेवसूरिजी पूर्वाचार्य की आचरणा, उन के ग्रन्थ और विशेष कर 'शान्तिसूरि' कृत चैत्यवंदनमहाभाष्य को किस कदर से प्रमाण मानते थे ! ।

खयाल करने की जगह है कि जिस भाष्य को अभयदेव-सूरि सर्व प्रकार से प्रमाण भूत गिनते हैं उसी भाष्य में कही हुई चार और आठ थुई की चैत्यवन्दना को छोड़ के वे 'तीन थुई से उत्कृष्ट चैत्यवन्दना होती है चौथी थुई नहीं है' ऐसा कहें यह तो उल्लुओं के सिवा कोई भी नहीं मानेगा ।

आचार्य श्रीअभयदेवसूरिप्रमाणित चैत्यवंदनभाष्य में कैसा स्पष्ट रीति से चार और आठ थुई से चैत्यवन्दन लिखा है सो देख लीजिये—

- “ एगनमोक्कारेणं होइ कनिट्टा जहन्निआ एसा (१) ।
 जहसत्तिनमोक्कारा जहन्निआ भण्णइ विजेट्टा (२) ॥
 सच्चिय सक्कथयंता नेया जेट्टा जहन्निआ सत्ता (३) ।
 सच्चिय इरियावहिआ-सहिआ सक्कथयदडेहि ॥
 मज्झिमकनिट्टिगेसा (४) मज्झिममज्झिमा उ होइ सा चेव ।
 चेइयदंडयथुइएगसंगया सब्बमज्झिमया (५) ॥
 मज्झिमजेट्टा सच्चिय तिन्नि थुईओ सिलोयतियजुत्ता (६) ।
 उक्कोसकणिट्टा पुण सच्चिय सक्कथयाइजुआ (७) ॥
 थुइजुअलजुअलएणं दुगुणिअचेइअथयाइदंडा जा ।
 सा उक्कोसविजेट्टा निट्ठिट्टा पुव्वसूरीहिं (८) ॥

शोत्तपणिवायदंडगपणिहाणतिगेण संजुआ एसा) ।

संपुण्णा विन्नेया जेट्ठा उक्कोसिआ नाम (९) ॥ ”

(शान्तिस्मूरीय चैत्यवन्दनमहाभाष्य)

अर्थ—मात्र एक नमस्कार करने से ‘ जघन्यजघन्या ’ चैत्यवन्दना होती है । १ ।

एक से ज्यादा यथाशक्ति नमस्कार करना इसे ‘ जघन्य-मध्यमा ’ चैत्यवन्दना कहते हैं । २ ।

वही शक्रस्तवपर्यन्त करने से—यानी यथाशक्ति नमस्कारों के ऊपर शक्रस्तव कहने से ‘ जघन्योत्कृष्टा ’ नाम की तीसरी चैत्यवन्दना होती है । ३ ।

वही—उपर्युक्त चैत्यवन्दना ईर्यावहिया के साथ शक्रस्तवदंडक के करने से ‘ मध्यमजघन्या ’ नाम की चौथी चैत्यवन्दना होती है । ४ ।

यही चैत्यदंडक और एक स्तुति के साथ करने से ‘ सर्व-मध्यमा ’ यानी नव भेदों के मध्यमें रहने वाली ‘ मध्यममध्यमा ’ नामा पांचवीं चैत्यवन्दना कही जाती है । ५ ।

उसी पांचवीं एक स्तुति वाली चैत्यवन्दना में त्रिश्लोकात्मक तीन थुईयां ओर संयुक्त कर देने से वह चार थुई की ‘ मध्यमो-त्कृष्टा ’ नाम की छठी चैत्यवन्दना होती है । ६ ।

इसी छठी चैत्यवन्दना में शक्रस्तवादि अधिक जोड़ देने से ‘ उत्कृष्टजघन्या ’ सातवीं चैत्यवन्दना होती है । ७ ।

‘ थुइजुअलजुअल ’ इसका अर्थ है ‘ आठ थुई ’ क्यों कि—

“ स्तुतियुगलं च समयभाषया स्तुतिचतुष्कमुच्यते ”

इत्यादि शास्त्रीय वचनों से—‘ थुइजुअल—स्तुतियुगल ’ इस का अर्थ हुआ स्तुतिचतुष्क यानी चार थुई, इस का युगल कहने से यानी इसे दो दफे गिनने से ‘ आठ स्तुति ’ यह अर्थ पाया, अतः स्तुतियुगलयुगल से (आठ थुईयों से) और यावत् चैत्य-स्तवादि दंडकों को दुगुना करने से ‘ उत्कृष्टमध्यमा ’ नामा आठवीं चैत्यवंदना होती है । ८ ।

इसी आठवीं चैत्यवंदना को स्तोत्र, प्रणिपातदंडक और प्रणिधान त्रिक के साथ करने से संपूर्ण—‘ उत्कृष्टोत्कृष्टा ’ नाम की नवमी चैत्यवंदना होती है । ९ ।

प्रियपाठक ! आप मध्यस्थभाव से कहिये कि भाष्योक्त चैत्यवंदना के इन नव भेदों में एक भी कोई ऐसा भेद है जिस में तीन ही स्तुतियां की जाती हों ? ।

जब भाष्यकार इस प्रकार स्पष्टतया चार और आठ स्तुतियों से चैत्यवंदना का विधान प्रतिपादन करते हैं और अभयदेवसूरि इसे प्रमाण मानते हैं तो यह कौन बुद्धिमान् कहेगा कि ‘ अभय-देवसूरि ऐसा कहते हैं कि चतुर्थ स्तुति नयी है ? वे आप ऐसा नहीं कहते किंतु ओर कोई ऐसी व्याख्या करते हैं जिसे आप लिखते हैं और शास्त्र-आचरणा विरुद्ध जान कर उस में आप अपनी अरुचि जाहिर करते हैं ।

कहा जाय कि—अरुचि जाहिर करते हैं—यह कैसे जाना ? तो उत्तर यह है कि उन के मुख से निकला हुआ ‘ किल ’ शब्द यह बात कह रहा है, क्यों कि प्रामाणिक कोषकारोंने जो जो ‘ किल ’ शब्द के अर्थ किये हैं उन सब से यही सिद्ध होता है कि लेखकों के प्रिय पूर्वोक्त व्याख्यान में टीकाकार की आप की संमति नहीं है ।

अमरकोश के कर्ता ' किल ' शब्द के इस मुजब दो अर्थ लिखते हैं—

“ किल संभाव्य-वार्तयोः ”

(अमरकोश)

—संभावना और वार्ता इन दो अर्थों में किल शब्द का प्रयोग होता है ।

आचार्य हेमचंद्र अपने ' अनेकार्थ संग्रह ' में यों लिखते हैं—

“ वार्ता-संभाव्ययोः किल, हेत्वरुच्योरलीके च ”

(हेम अनेकार्थसंग्रह)

—वार्ता, संभावना, हेतु, अरुचि और झूठ इन पांच अर्थों में ' किल ' शब्द का प्रयोग होता है ।

लेखकजी ! कहिये ' किल नाम निश्चय कर के, किल नाम निश्चय कर के ' यह आप का पोकार किस प्रामाणिक कोश के अनुसार है ? ।

मान भी लिया कि आप का अभिमत अर्थ भी किसी ने लिख दिया तो भी क्या इस से यह कह सकते हैं कि ' अभयदेव सूरि ' ने ' किल '—शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है ? हर्गिज नहीं । वे चार स्तुतिप्रतिपादक चैत्यवंदनमहाभाष्य को पूरे तौर से प्रमाण समझते थे इस लिए चौथी थुई को नवीन ठहराने के लिये नहीं किंतु ऐसी मान्यता का खंडन करने के लिये उन्होंने खास ' किल ' शब्द का प्रयोग किया है, यह बात पहले ही कह चुका हूँ ।

अब लेखक जी अपने श्रावक ताराचंद्र की वकालत करते

हुए ' इन झगडों का मूल किसने रोपा ? ' चिमनलाल के इस प्रश्न का उत्तर घड कर कहते हैं कि—

“ जिसने मेरे लेख की समालोचना को छोड, विषमालोचना लिख छपवाई—तिस का दादागुरुने तो—मूल रोपा ! और तिस के शिष्य प्रतिशिष्यों ने तथा तिन के पक्षियों ने—झूठ रूप पानी सींच के तीन चार थुई संबंधी झगडों के वृक्ष बढ़ाये ! और आज तक ऐसे २ झूठ लेख छपवा के बढ़ाते ही रहे हैं ! तो तुम लेखक महाशय को क्या जवाब दो गे ? जे कर कहों गे कि हमारे दादागुरु तो ' अंध थे ! और हमारे गुरु कुछ पढे गणे नहीं थे इस लिये राजेन्द्रसूरिजी ही इस झगडा का मूल रोपा है और उनने ही बढ़ाया है.' ”

यह लिखना भी लेखकों की अज्ञता को जाहिर करता है क्यों कि न तो तुम्हारे लेख के समालोचक के गुरु ने इस का मूल रोपा न इन के शिष्यप्रतिशिष्यों ने और पक्षियों ने तीन चार स्तुति संबंधी झगडों को बढ़ाया और न आज कल भी बढ़ा रहे हैं, यह काम तुम्हारे ही वाड़े की भेडों का है, वे ही इसे अच्छी तरह पार पहुंचाते हैं और शांत जैनसमाज में द्वेष की आग भडकाते हैं, तथा समालोचक के गुरु तो अपढ नहीं थे, यह पदवी भी आप के ही टोले में सोभा पायगी, और उन के दादागुरु को अंध बताने वाले आप ही अंध जान पडते हैं, क्यों कि अंधपन का फल ही यह है कि सीधे रास्ते से गिर पडना, यह दशा तीन के मत वालों की बराबर हो रही है ।

फिर लेखक झूठी युक्ति चलाते हैं कि—

“ अपने गच्छ के साधु साध्वियों की प्रवर्तना समाचारी (कलमें) बांधी, तीस में लिखा है कि—पूजा—प्रतिष्ठा, दीक्षादि नांद विधि में चार

थुई करने का ना नहीं तो हां तो अवश्य ही हुआ ”

पाठकगण ! देखिये त्रैस्तुतिक लोग मुख से तो पुकारते हैं ‘हम तपगच्छ की समाचारी मुजब चलते हैं,’ और अंदर से मनःकल्पित नयी समाचारी बना के उस मुजब चलते चलाते हैं, यदि तपगच्छीय सामाचारी मुजिब चलते होते तो ‘नयी कलमें’ बांधने की ही क्या जरूरत थी ? क्या तपगच्छ में प्राचीन समाचारी ग्रन्थ नहीं थे ? इस से तो यही पाया जाता है कि ‘पूजा प्रतिष्ठादि विशिष्ट कार्यों में चार; बाकी तीन थुई करनी चाहिये’ इत्यादि कथन सरासर असत्य-प्रलाप है, अगर किसी भी शास्त्र या समाचारी ग्रन्थ में तीन स्तुति का विधान होता तो इस के लिये नयी समाचारी (कलमें) बांधने की ही क्या आवश्यकता थी ? ।

फिर लेखक अपनी असत्यता का नमूना दिखाते हैं—

“ तुम्हारे दादा गुरु को राजेन्द्रसूरिजीने हित शिक्षा करी कि— गृहस्थपन का आरंभ छूटने के लिये तुमने अपने हाथ से भेष धारण किया ! तब मैंने श्रावक का व्रत उचरा के वासक्षेप किया है क्यों कि—चक्षुहीन को शास्त्र में दीक्षा देने की मना है वास्ते अब तुम अपने आत्मा से लोगोमें साधुपना श्रद्धते श्रद्धाते हो ? यह व्यवहार अच्छा नहीं ! तब कदाग्रह के वश हो के तुम्हारे गुरू और दादा गुरू दोनों ने तीन थुई को छोड के ‘ जालोर में एकान्त सामायिक सहित पोसह प्रतिक्रमणादिक में चार थुई का शरण लिया ! जब से मारवाड में तीन और चार थुई संबंधी झगडा टंटा का वृक्ष आठ आना बढा ! अब तुमने तो सोले आना कर दिया ! क्यों कि—प्रथम तो तुम्हारे गुरु को चक्षुहीन का शिष्य रहने में लज्जा आइ ! तब श्वेताम्बर गुरु को छोड के

पीताम्बर गुरू कर श्वेताम्बर पना का लिंग (वेष) ही छोड दिया ”

पाठकमहोदय ! यदि आप महामृषावाद का नमूना देखना चाहते हों तो लेखकों की इसी दलील को देख लीजिये मेरी समझ में इस से बढ कर असत्यता का दृष्टान्त आप को दूसरे कहीं भी नहीं मिलेगा ।

आप को इस बारे में शंका अवश्य होगी कि यह ऐसा असत्य किस प्रकार हो सकता है, पर मैं आप की इस शंका का निराकरण भी साथ ही कर दिया चाहता हूं, आशा है कि आगे का इतिहास पढ के आप अपनी शंका का निराकरण स्वयं कर लेंगे ।

तपगच्छ के श्रीपूज्य विजयधरणेन्द्रमूरिजी का विक्रम संवत् १९२३ की साल का वर्षा चतुर्मास कस्वे ' घानेराव ' में हुआ, उस वक्त ' वीकानेर ' से यति रत्नविजयजी भी अपने गुरु प्रमोदविजयजी, गुरु भाई हिम्मतविजयजी आदि ७-८ यतियों से घानेराव चतुर्मासा करने को आये हुए थे । दर्मियान चतुर्मास में भाद्रपद शुदि ३ के दिन श्रीपूज्यजी ने अत्तर मोल लिया और रत्नविजयजी को दिखा कर कहा-

‘ देखिये यह अत्तर कैसा है ? पांच रुपये तोले के हिसाब से लिया है, ठीक है या नहीं ? ’ ।

रत्नविजयजी ने कहा ऐसा कीमती तो यह अत्तर नहीं है ’ यह सुन श्री पूज्यजी ने ‘ ईलोजी घोडों के पारखू ’ तुम

१ यह एक मारवाडी कहावत है, जब कोई किसी वस्तुकी परीक्षा में भूल खा जाय तब उस परीक्षक की मस्खरी करने के लिये इस कहावत को बोलते हैं ।

अत्तर में क्या समझो ! यह कह कर अंगुली भर के उन के कपडे में रगडी तब रत्नविजयजी ने अपने कपडे के उस अत्तर वाले भाग को जमीन के साथ घिस के साफ किया ।

यह देख श्रीपूज्य कुद्ध हो कर बोले ' ऐसे अत्तर को तुम धूल में मिलाते हो !, । रत्नविजयजी बोले-मैं तो इसे मूत्र समझता हूं ।

यह गर्विष्ठ वाक्य श्रीपूज्य से सहन न हुआ-वे अपने क्रोध को नहीं रोक सके, बस फिर क्या था उसी समय रत्नविजय जी के मुख पर एक थप्पड जमा दिया ।

इस से रत्नविजय जी का मिजाज बिगडा, वे गुस्से हो कर बोले ' तुम मुझे मारते हो !, मैं कैसा यति हूं ! मुझे दूसरे यतियों के सरीखा मत समझना !' विगैरह यद्वा तद्वा बोलते हुए उठ के अपने गुरु के पास स्थान पर गये और सब हकीकत अपने गुरु को कही और वहांसे निकल कर ' नाडोल ' गये । यह समय पर्युषण पर्व के उतार का था ।

इस अरसे में ' आहोर ' से शा० ' खूवा ' जी ' समरथ ' जी मंदिर के लिए पत्थर लेने को गांव ' सोनाणे ' गया था, उसने लोगों के मुख से श्रीपूज्य और रत्नविजय जी की खटपट के समाचार सुने, तब वह ' नाडोल ' जा कर रत्नविजय जी को मिला, सब हकीकत पूछी सुनी, और फिर आहोर आया, वहां आ कर उसने लोगों को कहा कि ' अपने उपाध्याय जी पर-लोक वासी हो जाने से व्याख्यानादि का अंतराय पड़ता है इस लिये अगर सब भाइयों की सलाह हो और रत्नविजयजी को यहां पर बुला लें तो ठीक है । '

यह बात बहुत लोगों के गले उतर गई तब सब श्रावकों ने मिल कर शा० 'रतना नाथाजी' और 'साध-मोतीराम का बेटा-सहज राम' तथा एक 'मेणा' इन तीनों को उंट भाड़े करा के 'नाडोल' भेजे। 'रतना नथाजी' आसोज सुदि १० के दिन शुबः रत्नविजयजी को ले के आहोर पहुंचा। और 'साध-सहजराम' यति विनयविजय को लेकर आसोज सुदि १५ के साम को आहोर आया।

रत्नविजयजी ने तपगच्छ के उपाश्रय में सूत्रकृतांग (सूय-गडांग) सूत्र और सम्यक्त्वकौमुदी का व्याख्यान शुरू किया।

अभी तक प्रमोदविजय जी 'नाडोल में' ही थे। उपाध्याय सुरेंद्रसागरजी के शिष्य दलीचंद भी उस अरसे में आहोर थे। धनराज तलावत और शेठ वाघजी नवतत्त्व का अभ्यास करने लगे। एक वक्त दलीचंद जी और धनराज जी के आपस में इस प्रकार वार्तालाप हुआ—

दलीचंद—धना ! अपन दोनों दफ्तरीजी (रत्नविजयजी) के शिष्य हो जावें ?

धनराज—जीवविचार सीखते समय जब 'एगिंदिया य सव्वे' यह गाथा मैंने सीखी और अर्थ पढा तो मुझे संसार से बड़ा भय लगा, और इस से छूटने का उपाय उपाध्याय जी को पूछा तो उन्होंने कहा कि 'संसार के भय से छूटने का उपाय तो दीक्षा है परंतु चक्षुहीन को दीक्षा देना निषेध है, अठारा प्रकार के पुरुष और बीस प्रकार की स्त्रियां दीक्षा के अयोग्य हैं, इस लिये दफ्तरीजी मुझे तो दीक्षा

नहीं देंगे और मुझसे दीक्षा पल भी नहीं सकेगी ।

दलीचंद—तौ भी दफ्तरजी को अर्ज तो करें कि उन का इस बारे में क्या अभिप्राय है ।

धनराज—हां, इस में कोई हानि नहीं है ।

इस प्रकार आपस में बात करते हुए वे रत्नविजयजी के पास गये और अपना विचार उन के आगे प्रकट किया ।

रत्नविजयजी सब सुन लेकर फिर धनराज को उद्देश्य कर बोले—‘ तू खुशी से दीक्षा ले, अठारा प्रकार के पुरुष दीक्षा के अयोग्य कहे हैं पर वह कथन टीकाकारों ने पीछे से लिखा है सो कारणिक और अपेक्षा का है । व्यवहार में अच्छा नहीं लगे इस लिए ऐसी मर्यादा बांधी है । सूत्रों में तो अठारा प्रकार के पुरुषों में से कई पुरुषों ने दीक्षा ली मालूम होती है । जैसे कि ‘ जुंगित ’ (निन्द्य) जाति के पुरुष को टीकाकारों ने अयोग्य कहा है, और सूत्रों में ‘ मेतार्य, हरिकेश, चित्र, संभूत ’ विगैरह कई हीन से भी हीन जाति के पुरुष साधु हुए थे ऐसा देखा जाता है । इस लिये यह बात अपेक्षा की है । परमार्थ में कुछ बाध नहीं ।

धनराजजी ने कहा—‘ यह आप का कथन तो शायद निश्चयदृष्टि से मान भी लिया जाय कि परमार्थ में बाध नहीं, लेकिन व्यवहार में लोग चर्चा करेंगे कि—नेत्रहीन को दीक्षा क्यों दी ? तो आप क्या जवाब देंगे ? ।

रत्नविजयजी बोले ‘ तू जानता ही है कि इस समय मैं परिग्रहधारी हूं तथापि मेरा अनिश्चित भी इरादा है कि इस परिग्रह को किसी समय छोड़ दूंगा । अगर तू अभी दीक्षा ले लेवे तो

जब हम परिग्रह छोड़ के निर्ग्रन्थ बनेंगे तब तुझे भी क्रियोद्धार करा लेंगे । यदि कोई पूछेगा कि चक्षुहीन को दीक्षा क्यों दी ? तो हम को उत्तर देना सुलभ होगा कि—‘ हमने पहले ही इस को दीक्षा दे दी थी तो अब अकेला कहां रखें ? । अगर निराधार रख भी छोड़ें तो जिनशासन की हेलना होवे इस लिए इस को भी क्रियोद्धार करा के साथ में रक्खा है । यदि वह कहेंगे कि यतिपन में ही इस को दीक्षा क्यों दी ? तो हम कहेंगे उस वक्त हम को मूत्रों का विशेष ज्ञान नहीं था इस लिये यह मालूम नहीं हुआ कि नेत्रहीन को दीक्षा देना निषेध है । पीछे से जाना परंतु अब कुछ उपाय नहीं है । ’

वास्ते तुम दोनों दीक्षा के लिये तय्यार हो जाओ । ’

इत्यादि रत्नविजयजी की प्रेरणा से धनराज और दलीचंदजी ने इस प्रकार का लखत किया—

“ अपन दोनों को दीक्षा लेनी, जो इन्कार करे वह गौड़ीजी के मंदिर में १०१ एक सौ एक रुपया दंड के देवे ”

ऊपर मुजब का लखत आहोर के तपगच्छ के उपाश्रय में संवत् १९२३ के कार्तिक सुदि ५ की रात्रि के समय लिखा और नीचे ‘ लिखे नाम वाले ’ चार सदगृहस्थों की साख भी लिखवायी थी । साख लिखने वालों के नाम ये हैं—

शा. रूपाजी भगावत.

शेठ टीकमजी.

फूसामी नेमाजी.

रुघनाथ फतावत.

इन के सिवा निम्न लिखित नाम के गृहस्थ भी उस वक्त

उपाश्रय में मौजूद थे, उन के नाम-श्रीमाली (ब्राह्मण) हठोजी, मानाजी आलुजी, सेरा रूपाजी, तुलसा सिवाजी और शेट वाघजी विगैरह । इन सब महाशयों के समक्ष वह लखत धनराज और दलीचंद ने दफ्तरी-रत्नविजय जी के सिपुर्द किया ।

श्रीपूज्यपदवी का अभिलाष ।

रहते २ जब रत्नविजयजी के ऊपर आहोर वाले श्रद्धावान् हो गये तब उन्होंने श्रावकों से कहा-‘ नाडोलसे मेरे गुरुजी को बुला लाओ, मुझे श्रीपूज्य बनने के लिये मालवे की तर्फ विहार करना है । ’

इस के उत्तर में श्रावकों ने कहा कि ‘ सुरेंद्रसागरजी को उपाध्यायपद देके पीछे से श्रीपूज्य नाकबूल हो गये हैं, इस वास्ते वर्तमान श्रीपूज्य हम से भी नाराज हैं सो आप ही को हम श्रीपूज्य बना लेंगे । ’

पूर्वोक्त ठहराव नकी कर के आहोर वालों ने रत्नविजयजी के गुरु-‘ प्रमोदविजय ’ जी को लेने को आदमी भेजा । उस वक्त पौष वदि १० के मौके पर श्रीपूज्य ‘ वरकाणा ’ तीर्थ पर आये हुए थे । प्रमोदविजयजी भी ‘ नाडोल ’ से वरकाणे आये थे लेकिन इन के और श्रीपूज्य के आपस में अनबनाब जैसा था । आखिर आहोर के मनुष्य के साथ प्रमोदविजयजी आहोर आये और गांव के बाहर गोड़ी पार्श्वनाथ के मंदिर के पास सामियाना (तंबू) खडा करवा के वहां ठहरे । बाद पौष सुदि १५ पूर्णिमा के दिन प्रातःकाल में ‘ सामुजा के फले ’ हो कर बाजते गाजते गांव में प्रवेश किया और उपाश्रय में उतरे ।

एक दिन रत्नविजयजीने श्रावकों को कहा कि मेरे और

श्रीपूज्यजी के आपस में तकरार हो गई है सो तो तुम जानते ही हो इस हालत में श्रीपूज्य के कब्जे में रहे हुए मेरे सामान को कैसे छुड़ावें ? । क्यों कि इस वक्त मेरे ३००) तीन सौ रुपया तो नकद श्रीपूज्यजी से लेने हैं । मेरे एक चले का गहना मय-पेटी के, और भगवती, पन्नवणा आदि सूत्रों की प्रतियों से भरी हुई एक बड़ी मंजूस भी उन्हीं के पास पडी है । सिवा इस के दो वर्ष का मेरा पगार भी उन में लेना बाकी है । इस प्रकार मेरी मिलकत को श्रीपूज्यजी दबा बैठे हैं, तो इसे मंगवाने के लिये क्या उपाय करें ? । यह विचार रत्नविजयजी और श्रावकों के आपस में कुछ समय तक होने के बाद यह निश्चय हुआ कि ' आहोर ' के ठाकुर साहब को इस के लिये अर्ज की जाय, आखिर पर यही हुआ ।

आहोर के ठाकुर साहब बड़े ही भद्रपुरुष थे, उपाध्याय सुरेन्द्रसागरजी के साथ गाढ परिचय होने के कारण साधु-यतियों को ओर भी अधिक मान देते थे । आपने रत्नविजयजी और आहोर के श्रावकों की अर्ज स्वीकार की और राज-सिरोही से लिखा-पढी कर के श्रीपूज्यजी से रत्नविजयजी का माल छुडवाया । वह माल गांव ' शिवगंज ' में रत्नविजयजी को मिला, जिस में नकद रुपया, चले का गहना और ३ तीन पुस्तकें नहीं थीं । श्रीपूज्य और रत्नविजयजी के परस्पर फारखती हुई और जो २ चीजें बाकी थीं (नहीं मिली थीं) वह फारखती में वक़ात लिखी गई । बाद रत्नविजयजी वापिस आहोर आये ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि आहोर के तयागच्छीय

^१ सिरोही राज्यसे लिखापढी करने का कारण यह है कि उस वक्त श्रीपूज्य सिरोही गये हुए थे ।

श्रावक रत्नविजयजी को श्रीपूज्य बनाने के लिये वचन दे चुके थे । इस लिये रत्नविजय जी भी इस कार्य के लिये उन्हें बाध्य करें इस में कोई नवाई नहीं है, आहोर आते ही वे श्रावकों को इकट्ठा कर के बोले—‘ अब मुझे जल्दी से श्रीपूज्य बनना है, लवाजमे-सामग्री के लिये तुम्हारी तर्फ से क्या बन्दोवस्त है ? । ’ उपाश्रय के श्रावकों ने कहा—कितनीक चीजें तो उपाध्यायजी के भंडार में मौजूद हैं और बाकी सिद्धचक्रजी का सामान है उस में से आप को जरूरी चीजें दे देते हैं आप श्रीपूज्य बनिये ।

इस समय निम्न लिखित चीजें श्रावकोंने रत्नविजयजी को भेंट कीं—

रेशमी गद्दी-तकिया,	नं० १
जाजम बड़ी	नं० १
किनखाव का चंद्रोआ	नं० १
पिछवाई (पुठिया)	नं० १
सोने के बरकवाली स्थापना	नं० १

सिवा इम के चांदी की छडी और चामर भी-जो मुनिसुव्रत-भगवान् के थे-रत्नविजयजी के सिपुर्द किये । अब रत्नविजयजीने ठाकुर साहब को अर्ज की के ‘ आप हमें परवाना लिख दीजिये कि—‘ इन को हमने श्रीपूज्य बनाया है और छडी चामर भी हमने दिये हैं ’ इस से आप का बडा यश होगा । क्यों कि देते तो महाजन हैं आप को तो सिर्फ चार अक्षर लिखने की ही तकलीफ है । ’

यह बात पहले ही कह चुके हैं कि ठाकुर साहब सज्जन पुरुष थे और-लग्न-मुहूर्तादिक आप रत्नविजयजी से पूछा करते

थे—यह भी एक दाक्षिण्य का कारण था और आखिर प्रार्थना भी वेदाम की थी इस वास्ते आपने रत्नविजयजी को पूर्वोक्त प्रमाण पत्र लिख दिया ।

यह सब हो जाने पर रत्नविजयजी ने वहां से निकलने का इरादा किया, खर्ची कम होने से रुपया एक सौ (१००) श्रेष्ठ टीकमजी के और एक सौ (१००) लखमाजी रुपाजी के पास से लिये यह कह कर के कि वंदाने में मिलेंगे तब तुम्हें वापिस दे देंगे । रुपया ५८।।।) अठावन और तेरा आने तलावत धनराजजी की मारफत श्राविकाओं से ओर भी मिले । यह सब सामान ले कर रत्नविजयजीने आहोर से अजमेर की तर्फ विहार किया, उस वक्त निम्न लिखित यति विगैरह उन के साथ में थे—

- | | |
|----------------------|----------------|
| १ धनविजयजी, | २ खूबविजयजी, |
| ३ लालविजयजी, | ४ हमीरविजयजी, |
| ५-६ दो गृहस्थ चले और | ७ एक ब्राह्मण, |

अजमेर में मियाना (पालखी) खरीद किया और वंदाते २ ' संभूगढ ' पहुंचे । वहां पर ' हेमसागर ' जी यति से मिलना हुआ और श्रीपूज्य जी के साथ चली हुई खटपट की बात चीतें हुई ।

उस वक्त हेमसागरजी भी उसी कारण से श्रीपूज्य जी से नाराज थे जिस से कि आहोर के श्रावक । इस लिये उन्होंने ने भी रत्नविजयजी की खटपट में सहायता दी । इतना ही नहीं, बल्के वहीं (संभूगढ में) उत्सव कर के रत्नविजयजी को पाठ विद्यया और ' राजेन्द्रसूरि ' जी नाम स्थापन किया ।

पाठकगण ! ध्यान रखिये, अब आप का परिचित नाम

‘रत्नविजय’ पर्दानशीन होता है और उस की जगह पर ‘राजेन्द्रसूरि’ यह अभिनव नाम उपस्थित होता है, अब आप इसी के खेल देखेंगे। हमारी कलम भी अब इसी नये नाम पर मोहित है।

निश्चयदृष्टि से वे चाहे ‘राजेन्द्र’ हो या ‘रङ्गेन्द्र’ ‘सूरि’ हो या ‘छरि’ हमें इस बात से प्रयोजन नहीं है, इस मीमांसा का यह स्थल भी नहीं है, हमें प्रयोजन है उन के बाह्य कर्तव्यों से, और उन्हीं की हम मीमांसा कर रहे हैं।

‘नामनिक्षेप’ भी जैनसिद्धान्त में स्वीकृत है। हमारे लिये यह सिद्धान्त इस जगह बड़ा काम देगा। इसी सिद्धान्त के आधार से हम ‘रत्नविजयजी’ को निःसंकोच ‘राजेन्द्रसूरि’ जी इस नाम से लिखेंगे। इस में हमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।

राजेन्द्रसूरिजी ने यति-श्रीपूज्य आदि सर्व अवस्थाओं में क्या क्या खेल खेले हैं—यह सब कहने का यह स्थान नहीं है। उन गुप्त और अयोग्य खेलों को इस सभ्यताप्रिय जमाने में प्रकट करना है भी अयोग्य। जो बात प्रकृत-विषय में उपयोगी है सिर्फ उसी का यहां पर उल्लेख करना सार्थक है।

संवत् १९२५ के आषाढ वदि १० के रोज राजेन्द्रसूरिजी ने गांव ‘जावरे’ में विना ही गुरु के स्वयं क्रियोद्धार किया। यहीं से मानो इन की लीला का चतुर्थ अंक प्रारंभ हुआ।

पहले कहा जा चुका है कि तलावत धनराजजी और दलीचंदजी ने दीक्षा लेने का पूर्ण विचार कर लिया था। जब राजेन्द्रसूरिजी ने व्यवहारिक परिग्रह त्याग दिया तो धनराजजी

भी अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये अपने मा-बापों से दीक्षा लेने की आज्ञा मांगने लगे ।

पर यह काम सहज नहीं था, चाहे जैसा भी पुत्र ! पुत्र का वियोग ! मोहग्रस्त संसारियों के लिये यह एक असह्य घटना है ।

इस घटना को सर्व साधारण कह कर के धनराजजी ने अपने माता-पिता को बहुत कुछ समजाया लेकिन निराशा के सिवा और कुछ फल नहीं पाया ।

इतना होने पर भी वे भग्नमनोरथ-निराश नहीं हुए । सर्व विघ्नों-अन्तरायों का नाश करने वाले पवित्र आयंबिल तप को अब वे करने लगे, इसी को उन्होंने अपना अन्तिम और अमोघ शस्त्र समझा ।

तपस्या सचमुच ही अद्भुतप्रभाव वाली सिद्ध क्रिया है । “ तपो हि दुरतिक्रमम् ” यह शास्त्रीय ही नहीं बल्के अनुभव सिद्ध वचन है-ऐसा कहना चाहिये । धनराजजी को इस का अनुभव अच्छी तरह हो चुका था । वे ज्यों ज्यों पूर्वोक्त तप करने लगे त्यों त्यों उन की दीक्षा में अंतराय करने वालों के परिणाम बदलने लगे । वे अपनी मोहभरी भूल को प्रत्यक्ष देखने लगे । ‘ धर्मकार्य में विघ्न डालना दृढधर्मिपन का लक्षण नहीं ’ यह बोध उन के हृदय में प्रकाशमान हुआ । आखिर विचार बदला और दीक्षा की अनुमति दे कर साठ आयंबिलों की पारणा करवाई ।

तलावन धनराजजी की दीक्षा ।

विक्रम संवत् १९३१ की साल का वर्षाचतुर्मास धनविजयजी और रामविजयजी ने तो जालोर-मारवाड़ में किया और

राजेन्द्रमूरिजी, प्रमोदरुचिजी और जयविजयजी-इन्हों ने आहोर में ।

इसी चौमासे में श्रावण सुदि १५ पूर्णिमा के दिन बड़ी धूम-धाम के साथ; आठ दश गांवों के लोगों के समक्ष धनराजजी को राजेन्द्रमूरिजी ने खुद ने दीक्षा दी और ' धर्मविजय ' नाम रक्खा ।

उसी रोज दूसरे भी दो आदमियों ने धनराजजी के साथ दीक्षा ली थी जिन के नाम ' उदयविजय ' और ' सुखविजय ' रक्खे थे ।

बाद संवत् १९३५ के जेठ सुदि २ और शुक्रवार के दिन शहर जालोर में राजेन्द्रमूरिजी ने संघसमक्ष ' धर्मविजय ' जी को बड़ी दीक्षा दी और पहले के नाम को बदल के ' कीर्तिचन्द्र ' नाम दिया ।

इस मौके पर भी राजेन्द्रमूरिजी का परिवार-धनविजयजी, मोहनविजयजी, ऋद्धिविजयजी, तीकमविजयजी, तथा साध्वी लक्ष्मीश्री विद्याश्री, अमृतश्री, ज्ञानश्री विगैरह-वहां मौजूद था ।

पाठकगण ! इस लंबे चौड़े इतिहास ने आप का बहुत समय लिया-यह मैं कबूल करूंगा, पर यह भी कहना जरूरी होगा कि यह इतिहास निरर्थक नहीं है, इस के इतने विस्तार विना आप यह कैसे जान सकते थे कि लेखक महाशय बार २ अपना भीतरी द्वेष किस के ऊपर निकालते हैं ?, वे अपनी सज्जनता (?) को जाहिरात में लाते हुए ' अंध-शब्द ' का प्रयोग किस के लिये करते हैं ? । अपनी असत्यता और मिथ्यावाद का साक्षी-

“ तुम्हारे दादा गुरु को राजेन्द्रसूरिजी ने हित शिक्षा करी ”
-इत्यादिक कटु लेख में हमारा दादागुरु वे किस को लिखते हैं ? ।

अब आप इस बात को आसानी से समझ सकेंगे कि जिस धनराज के विषय में आपने अद्भुत वैराग्य-भावना का पाठ पढ़ा है उसी महानुभाव को राजेन्द्रसूरिजी ने प्रथम-दीक्षा में ‘ धर्मविजय ’ और द्वितीय-बड़ी दीक्षा में ‘ कीर्तिचंद्र ’ जी बनाया था ।

बस इसी महात्मापर ये सज्जन शिरोमणि लेखक अपने अनन्तानुबन्धी क्रोध की ज्वालाएं बरसा रहे हैं, इसी महापुरुष के लिये वे लिखते हैं कि राजेन्द्रसूरि जी ने दीक्षा नहीं दी ! ।

प्रियपाठक ! आप ही सौचिये कि ऐसा महामृषावाद का उदाहरण आप ओर कहां पा सकते हैं या पा सकेंगे ? । दुनिया में ऐसा भी मनुष्य आप को कहीं दिखाई दिया-जो मध्याह्न को मध्यरात्रि और सूर्य को अन्धकार का ढेर कहता फिरता हो ? । यदि कहोगे कि नहीं, तो महामृषा वाद का दृष्टान्त भी दूसरी जगह नहीं ।

लेखक जी ! आप इस विषय में आज कल के बाल हैं, आप पुरानी हकीकत से अज्ञात होने से गप्पीदासों के मुख से जो जो सुनते हो उसी को सत्य मानलेते हो, परंतु तकलीफ उठा कर पुराने इतिहास को पढो और जिज्ञासु भाव से तलाश करो, पीछे मालूम होगा कि-‘ तुम्हारे दादा गुरु को राजेन्द्रसूरिजी ने दीक्षा नहीं दी ’ यह मानना कितना सत्य है ! ।

हमारे गुरुमहाराज को महाराज श्रीकीर्तिचंद्र जी के शिष्य रहने

में किसी प्रकार लज्जा नहीं आई, वे उन महोपकारी गुरु को जींदगी के छेडे तक गुरु ही मानते थे, तथापि क्रियोद्धार कर के उपसंपद् धारण की इस का कारण दूसरा है, तुम कहते हो वह नहीं ।

कीर्तिचंद्रजी भवभीरु पुरुष थे । उन्होंने ने तीन थुई के मत को शास्त्रविरुद्ध समझते ही उसे छोड देने का उद्योग किया और आखिर छोडा ।

मेरी ही क्या, सारे संसार की समझ में यह काम बड़ा उत्कृष्ट समझा जाता है । चिरकाल से पकडी हुई अपनी असत्य बात को छोड देना लड़कों का खेल नहीं है । संसार के भय विना ऐसा होना कठिन कार्य है । ऐसा कठिन कार्य भी उन्होंने ने कर लिया तो भी अभीतक वे अपना एक कार्य बाकी समझते थे । वे अच्छी तरह जानते थे कि चाहे जैसी भी उत्कृष्ट धर्मक्रिया वीतराग की आज्ञा मुजिब करने से ही संपूर्ण फल देती है । यदि ऐसा न होता तो 'जमाली' कदापि किल्बिषिया देवों की योनि में नहीं जाता । इस लिये जैसे चतुर्थस्तुतिको शास्त्रसम्मत जान के मैने स्वीकार की, वैसे ही देशकाल के अनुसार संयम-पालने वाले वीतराग की आज्ञानुसार मूत्रपञ्चाङ्गीस्वीकृत चार स्तुति के मत को पालने वाले किसी संयमी मुनि का योग मिले तो उन के पास क्रियोद्धार भी कर लूं । परंतु भावि प्रबल है, इस अभिलाषा की सिद्धि होते पहले ही उन महात्मा ने इस क्षणिक मनुष्य देह का त्याग कर के दिव्य देह का स्वीकार कर लिया-वे देवलोक सिधार गये ! ।

यह खेद का विषय है कि उन की उक्त धारणा सिद्ध नहीं

हुई, तथापि वह सर्वथा निष्फल भी नहीं गई। आखिर में उस पवित्र भावना का बीज आपने अपने विनीतशिष्य मुनिवर्य श्रीकेशरविजयजी के हृदय में रोपा जो कालान्तर में श्रीमत्पंन्यास-सिद्धिविजय जी गणि की कृपा से अंकुरित हुआ।

लेखक जी ! अब तो आप स्पष्ट जान सकते हैं कि हमारे गुरुमहाराज ने जो क्रियोद्धार किया है वह सिर्फ त्रिस्तुतिक मत के संस्कारों को धोड़ालने के लिये किया है, या यह कहना चाहिये कि उन्होंने मर्यादा-हीन त्रिस्तुतिक मत की कल्पित मर्यादा को जलांजलि देकर सनातन मर्यादा और गुरुपरंपरा में प्रवेश किया है दूसरा कुछ भी नहीं किया। तो अब तुम्हारा पूर्वोक्त सारा ही लेख असत्य ठहरा या नहीं ?।

फिर लेखक कहते हैं कि—

“ जैन धर्म का असली सनातन रास्ता देखने वाले राजेन्द्रसूरि जी के तो जैनधर्म की पुष्टि के लिए दलीले शास्त्रयुक्त हुआ करती थी, और उन के परिवार के साधुओं की भी यही दशा है ”

लेखक जी ! तुम्हारे राजेन्द्रसूरि जी जैनमार्ग के कैसे अनजान थे इस बात का तो मैंने पहले ही विवेचन कर दिया है। उन्होंने अपने मत की पुष्टि के लिये कैसी २ शास्त्रविरुद्ध मनः-कल्पित युक्तियां चलाई हैं फक्त उन्हीं के कुछ दृष्टान्त बतलाना उचित समझता हूँ।

राजेन्द्रसूरिजी के खुद के लिखे हुए ‘ चैत्यवंदनविचार ’ के पत्र मेरे पास हैं, उन में एक जगह वे लिखते हैं—

“ ललीतविस्तरा चैत्यवंदन की टिका ९६२ की साल में हरीभद्रसूरी भये तिनो ने बनाइ तामें लिखते हे—‘ उपचितपुन्यसंभारा ’

एसा पाठ का परमार्थ यह हे के उपचय करी हे पूजा सामग्री जिनो ने एसे ”

क्या ही असत्य डिंग है ! ९६२ में हरिभद्रमूरि हुए एसा किसी भी जैन शास्त्र या इतिहास से सिद्ध नहीं होता, शास्त्र में तो सिर्फ यह उल्लेख पाया जाता है कि ९६२ की साल में सिद्धर्षि ने ‘ उपमितिभवप्रपञ्चा कथा ’ समाप्त की ।

सिद्धर्षि ने हरिभद्रमूरिजी अपने धर्मगुरु लिखे हैं इस कारण से यदि ‘ ९६२ की साल में हरिभद्रमूरि हुए ’ एसा मानते हो तो बड़ी भूल है, सिद्धर्षिजी के ही लेख से हरिभद्रमूरि उन से बहुत पुराने थे एसा सिद्ध हो चुका है, इस लिये सिद्धर्षि के सत्ता-काल को हरिभद्रमूरिजी का उत्पत्तिसमय कहना नितान्त मूर्खता है ।

‘ उपचितपुण्यसंभाराः ’ इस का अर्थ भी राजेन्द्रमूरिजीने सिर्फ अपनी मनःकल्पना से ही किया है, यह भी उन की क्लृप्तनाओं में का ही एक नमूना है ।

उन्हीं पत्रों में—

“ किमित्याह—उत्कृष्यत इत्युत्कर्षा—उत्कृष्टा । इदं च व्याख्यान-मेके—

‘ तिष्णी वा कट्टई जाव थुईओ तिसिलोगिआ ’ इत्येतां कल्पभाष्य-गाथां, पणिहाणं० ”

इस पाठ का वे कैसा कल्पित अर्थ करते हैं पढ लीजिये—

“ केसे जाणी एसा टिकाकारने कोइ पूछे तो कहते हे के उत्कृष्ट चैत्यवंदन कल्पभाष्यकार तीन थुइ का लिखते हे तीन थुइ करणा यावत् छेली तीन श्लोक की वर्द्धमान थुइ एसा पाठ से हम जाणते हे या चोथी नवी हे ”

पाठक महोदय ! यदि आप संस्कृत के जान हैं तो देख लें राजेन्द्रसूरिजी के अर्थ की असत्यता । अगर स्वयं नहीं समझ सकते हो तो किसी निष्पक्षपाती विद्वान् से पूछ के निर्णय कर लो कि उपर्युक्त पाठों का अर्थ राजेन्द्रसूरिजी ने कैसा असंगत और असत्य लिखा है ! मैं इन सब स्थलों की समालोचना करना विस्तार के भय से छोड़ देता हूँ ।

फिर उन्हीं पत्रों में राजेन्द्रसूरिजी अपनी मत कल्पना का परिचय दिखाते हैं कि—

“ वंदेत्तु में गाथा तयालीस ४३ थेट की ने फेर सात गाथा कोइये नवी खेपन करी विस की मालुम नही । ”

लेखक जी ! तुम भी सौचो और तुम्हारे गुरु को भी पूछ लो कि यह भी राजेन्द्रसूरिजी की युक्ति शास्त्र खिलाफ है या नहीं ? । कहां तक लिखें, जैसे २ राजेन्द्रसूरिजी के असद्विचारों के ढेर उन्नाड़ते हैं वैसे ही वैसे उन में अशुद्धियों के कीड़े किलबिलाते हुए नजर आते ही रहते हैं । आजकल के उन के कइएक साधुओं के विचारों की दशा तो इस से भी बड़ी चढ़ी है । इन की अस्द् गन्ध के आगे तो हमें सुब से दम लेना भी मुश्किल हो गया है ।

फिर लेखक अपने राजेन्द्रसूरिजी की बहादुरी का ब्युगल फूंकते हैं कि—

“ गोलवाड स्थल में श्री कोरटाजी तीर्थ शिवगंजादि सहर गांवो में जीर्णोद्धार तथा नवीन मंदिरों की प्रतिष्ठा और सेंकडों प्रतिमाओं की अंजन शलाका करवाई. फिर जालोरी स्थल में जीर्णोद्धार तथा अंजन शलाका करवाई. और सिरोही राज्य विगेरे स्थलो में प्रतिष्ठा अंजन

शलाका जीर्णोद्धार नवीन मंदिर उपदेश दे कर श्रीविजयरार्जेन्द्रसूरिजी ने करवाये ”

लेखकजी जिन जिन गांवों के नाम लेकर तुम राजेंद्रसूरिजी की बहादुरी के गीत गा रहे हो वे सब गांव हमारे देखे हुए हैं, जिस ने इन गांवों को देखा होगा कोई भी ऐसा नहीं कहेगा कि राजेन्द्रसूरिजी ने यह काम जिनभक्ति के निमित्त किया है । कोरटे में करीब दो हजार वर्ष की पुरानी श्रीमहावीर प्रभु की प्रतिमा को उठवा कर नीचे जमीन पर रखवाई और इस के स्थान पर अपने नाम के लंबे चौड़े लेखवाली नयी मूर्ति स्थापित की । क्या इसे भी कोई जिनभक्ति कह सकता है ? ।

शिवगंज में ४-५ पुराने मंदिरों के होने पर भी अपना नाम रखने के लिये कीर्ति के अभिलाषी गृहस्थों को उपदेश देकर नया मंदिर बनवाया, क्या इस का नाम भी भक्ति है ? ।

जालोर में प्रतिष्ठित प्रतिमा का लेख मुसलमान शिलावट के पास घिसवा के बड़ी भारी आशातना की क्या इस को भी भक्ति कहना ? ।

सिरोही राज्य के गांव जावाल में दो बड़े मंदिरों के होने पर भी अपना पक्ष और कीर्ति बढ़ाने की इच्छा से नया मंदिर करवाया, क्या यह भी भक्ति का स्थान समझना ? ।

ऐसे ही ‘ आहोर, ’ ‘ गुडा, ’ ‘ हरजी, ’ ‘ मंडवारिया ’ विगैरह कई गांवों में पुराने दो दो चार चार मंदिर विद्यमान थे तो भी राजेन्द्रसूरिजी और उन के साधुओंने लाखों रुपया खर्च कराके नये मंदिरों की भरमार करवा दी, और अब भी करवा रहे हैं, क्या इस में भक्ति के नाम से आशातना नहीं है ? ।

जहाँ पुराने मंदिर मौजूद हैं, और उन की तो संभाल और सेवा पूजा का भी ठिकाना नहीं ऐसे स्थानों में नये मंदिर खड़े करवाने की प्रेरणा करना, यह कीर्ति की अभिलाषा नहीं तो और क्या हो सकता है ? ।

बड़े खेद की बात है; जैनधर्मियों की घटती के पोकार प्रतिदिन सुनाई दे रहे हैं, जैनतीर्थों और मंदिरों की दुर्दशा के दुःखप्रद समाचारों से कान भरते जाते हैं, अविद्या की प्रबलता जैनों के शिर स्वार हो रही है, जैनधर्म के पालकों को गरीबी से भीख मांग के पेट भरने का वक्त आ गया है, साधु, उपदेशक और सामयिक पत्र विगैरह समाजहितैषी गण; इन दुःख के समाचारों को पुकार कर के जैनसमाज के कानों में पहुंचा रहे हैं तो भी समाज जागता नहीं है, कदापि जागृत होने की चेष्टा करता है तो कीर्ति के लोभी समय के अनजान साधु उसे जागने नहीं देते—वे इस को समय के अनुपयोगी जीर्ण सड़े हुए विचारों की निद्रा में पड़े रखना ही चाहते हैं। तीर्थंकर गोत्र, स्वर्ग के सुख और मुक्ति के महल का लोभ बता कर कीर्ति के भूखे जैनों से बिनजरूरी कार्यों में लाखों रूपयों की आहुतियां दिलाते हैं, पर गरीब जैनों के दुःख की तर्फ कोई भी नहीं देखता, अज्ञानी जैन बालक अपना परमपवित्र धर्म छोड़ के अन्यधर्म की शरण लेते हैं—इस तर्फ किसी का खयाल तक नहीं है ! । अफसोस ! ऐसे उपदेशक और धर्मियों की आंखें कब खुलेंगी और अपने कर्तव्य की तर्फ लक्ष्य देंगे ? ।

फिर लेखक अपनी अज्ञता की निशानी बताते हैं कि—

“ तुम्हारे जैसे ऐकान्तिक चार थुई के मतवाले को पृच्छा करेंगे

कि तुम्हारे चार थुई के जो जो शास्त्र है ! तिन मे चार निकाय के सब देवता अत्रती अपच्चखानी हैं वांदने पूजने योग नहीं—ऐसा लिखा है ! तो तुम चार थुई वाले अपना ही शास्त्रवचन उत्थाप के चोथी थुई कइ के तिन अत्रती देवताओं की वंदना पूजना क्यों करते हो ? ऐसा वे हुंढक व तेरापंथी, आप को वा आप के पक्षियों को पूछेंगे ! तो आप क्या जवाब दोगे ? ”

बिलकुल गलत बात है, कोई भी चार थुई करने वाला चोथी थुई कहके अत्रती देवों की वंदना पूजना नहीं करता, तथापि लेखक कहते हैं ‘ करते हो ’ सो यह इन का पूर्ण अज्ञान है । क्या लेखक बिलकुल अज्ञानी हैं ? उन को यह भी मालूम नहीं कि स्तुति नाम किस का है ? अगर कुछ भी संस्कृत विद्या में प्रवेश किया होता तो यह कहनेका साहस कदापि नहीं करते कि ‘ स्तुति ’ शब्द का अर्थ वंदन पूजन है । खैर ।

लेखक ! अब भी याद रखिये कि ‘ स्तुति ’ शब्द का अर्थ वंदन पूजन नहीं किंतु ‘ स्तुति ’ प्रशंसा, श्लाघा, वर्णवाद का है, भाषा में इस का पर्याय शब्द ‘ तारीफ ’ या ‘ बखान ’ है इस विषय में मैंने पहले ही बहुत कुछ लिख दिया है इस लिये यहां पर फिर विस्तार करना अच्छा नहीं ।

लेखकों का यह भी लिखना असत्य है कि ‘ इन देवताओं का पूजन चार थुई के शास्त्रों में नहीं लिखा ’ बराबर लिखा है, परंतु पक्षपात के काले चश्मे पहिने हुए मनुष्य इसे नहीं देखें तो इस में दोष किसका ? । लेखक महानुभाव पक्षपातरहित हो कर नीचे लिखे हुए शास्त्रपाठों को देखें कि जैनशास्त्रों में देवताओं की पूजा लिखी है या नहीं ? ।

“ साहम्मिआ य एए महद्धिआ सम्मदिट्ठिणो जेण ।

एतो च्चिय उच्चिअं खलु एएंसि इत्थ पूयाई ॥ ”

(पंचाशकप्रकरण)

अर्थ—ये ब्रह्मशान्ति, अम्बिका विगैरह महर्दिक देव साधार्मिक (समानधर्म वाले) हैं इस लिए यहां पर इन की पूजा और स्तुति विगैरह करना ही चाहिये ।

“ विग्घविघायणहेउं चेईहररक्खणाय निच्चं पि ।

कुज्जा पूयाईय-मेयाणं धम्मवं, किंच ॥

मिच्छयगुणजुआणं निवाइयाणं करेति पूयाइं ।

इहलोकए, सम्मत्त-गुणजुआणं न उण मूढा ॥

(जीवानुशासन)

अर्थ—विघ्नों के नाश के निमित्त और जिनमंदिरों की रक्षा के लिए धर्मी पुरुष इन ब्रह्मशान्त्यादि देवों की नित्य ही पूजा तथा कायोत्सर्ग स्तुति आदि करें ।

(इन की पूजा विगैरह नहीं करने वालों को ग्रन्थकार उपालंभ देते हैं कि) मिथ्यात्वगुणयुक्त राजादिक की तो इह लोकार्थ पूजा करते हैं और सम्यक्त्वगुणयुक्त साधार्मिक देवों की (पूजा) मूर्ख नहीं करते ।

लेखक जी ! देखिये चार धुई के शास्त्रों में सम्यक्त्वी देवों की पूजा का निषेध किया है कि उन की पूजा नहीं करने वाले गृहस्थ को मूर्ख-अज्ञानी कहा है ? ।

फिर लेखक अपनी पंडिताई का नमूना दिखाते हैं कि—

“ सामायिक व्रत में रगडा डाल कर तपागच्छ के पीताम्बर संवेगी तो श्री आवश्यक सूत्र को उत्थाप के सामायिक उच्चार के

पहिले ही इरियावही करते कराते हैं ! और खरतरगच्छ के पीताम्बर संवेगी श्रीमहानिशीथ सूत्र को उत्थाप के सामायिक उच्चार के बाद ही इरियावही करते कराते हैं ! इत्यादि श्वेताम्बर धर्म में अनेक रगडा डाल कर जैनभिक्षु सरिखे ही पीताम्बर संवेगीयो ने जुदा मत निकाला है ! और जगह २ संघ में विरोध जगाया है ”

लेखकों को आंखें खोल के देखना चाहिये कि तपागच्छ के संवेगी आवश्यकमूत्र का उत्थापन करते हैं या तुम्हारे जैसे असंवेगी ? ।

पाठक महोदय ! इस विषय के कुछ सिद्धान्त सुन लें और फिर सौचें कि इन में आदरणीय सिद्धान्त कौनसा है ।

(१) “ एआए विहीए तिविहेण साहुणो णमिऊण पच्छा साहुसक्खिअं करेइ ‘ करेमिभंते ’ (इत्यादि) जावसाह् पज्जुवासामि त्ति काऊण, जइ चेइआई अत्थि तो पढमं वंदइ, साहुसगासाओ रयहरणं निसज्जं वा मग्गति । अह घरे तो से उवग्गहिअरयहरणं अत्थि, तस्स असति वत्थंतेणं । पच्छा ईरिआए पडिक्कमति, पच्छा अलोएत्ता वंदति आयरिआदी । ”

(आवश्यकचूर्णि)

(२) “ सो अ सावओ इट्ठिपत्तो अणिट्ठिपत्तो अ । जो इट्ठिपत्तो सो गओ साहुसमीवे सामाइयं करेइ । जो पुण अणिट्ठिपत्तो सो घराओ चेव सामाइयं काऊण पंचसमिओ तिगुत्तो जहा साह् तथा (हा) गच्छइ, साहुसमीवे पत्तो पुणो सामाइयं करेइ, ईरियावहिआए पडिक्कमति, जइ चेइआई अत्थि तो पढमं वंदइ पच्छा पढइ सुणइ वा ”

(नवपदप्रकरण वृत्ति)

(१) अर्थ—‘ इस विधि से साधुओं को त्रिविध नमन कर के पीछे साधुसाक्षिक ‘ करेभि भंते ’ इत्यादि करके यदि चैत्य हों तो उन्हें प्रथम वांद ले और साधुओं के पाससे रजोहरण-दंडासण या निषद्या मांगे, जो घर पर हो तो उस के औपग्रहिक रजोहरण-चरवला होता है, अगर न हो तो वस्त्र के छेड़े से काम लेना, पीछे ईर्यावही पडिक्रम कर आलौयणा करके आचार्यादिक को वंदन करे । ’

(२) ‘ वह श्रावक दो प्रकार के होते हैं—ऋद्धिप्राप्त (ऋद्धिमन्त) और अनृद्धिप्राप्त, (सामान्य) । जो ऋद्धिप्राप्त हो वह साधुसमीप जाकर सामायिक करे और अनृद्धिप्राप्त हो वह घर से ही सामायिक करके पांचसमति पालते हुए तीन गुप्तियों से गुप्त साधु की तरह साधुसमीप जावे, वहां जाकर फिर साधु साक्षिक सामायिक करे (उच्चरे), बाद ईर्यावही पडिक्रम कर जिन प्रतिमाएं हों तो प्रथम वंदन करे फिर पुस्तक पढ़े या सुने । ’

उपर्युक्त पाठों का भावार्थ—

भावार्थ इन का यह है कि सामायिक कर्ता श्रावक दो प्रकार के होते हैं । पहला, राजा मंत्री विगैरह ऋद्धिमन्त, और दूसरा साधारण ।

ऋद्धिमन्त श्रावक को साधु के योग में स्वयोग्यतानुसार उन के पास जाके ही सामायिक करना चाहिये जिससे कि जैनधर्म और साधुओं की उन्नति हो ।

दूसरे दर्जे के श्रावक को जहां तहां भी फुरसत मिलने पर सामायिक आदरना चाहिये, पर यह बात जरूरी है कि स्थान निर्वृतिमय होना चाहिये, धंधार्थी सामान्य श्रावक को साधुओं का

योग होने पर भी घर पर ही सामायिक ग्रहण करके पीछे साधु समीप जाना और स्वयं लिए हुए सामायिक को फिर साधुसाक्षिक कर लेना चाहिये, ऐसा करने का प्रयोजन यह है कि साधारण मनुष्यों के कार्य प्राय अनियमित रहते हैं। वास्तव में उन का जीवन ही प्रवृत्तिमय होता है। जो समय उन की निर्वृति का माना जाता है; बहुधा उस में भी वे निर्वृति नहीं पा सकते। इधर से उधर गये कि वह भी समय प्रवृत्तिमय बना ही था। मतलब कि वह बेचारा धर्मस्थानक में जाते जाते ही कई अनिवार्य कामों से घिर जाता है, परिणाम यह आता है कि उसकी सामायिक करने की भावना यों ही पड़ी रहती है और विवश हो कर उसे अन्य कामों में लग जाना पड़ता है, इस लिए इस दर्जे के श्रावक को समय मिलते ही सामायिक कर लेना चाहिये।

यद्यपि पहले दर्जे के गृहस्थ भी कामों से मुक्त तो नहीं हैं तो भी उन के सभी काम बहुत करके नियमित समय में ही किये जाते हैं, यदि कोई एका एक नया कार्य उपस्थित हो भी जाय तो भी उसे नौकर चाकरों को सौंप सकते हैं, या अमुक समय के लिये छोड़ सकते हैं, परंतु साधारण मनुष्य प्रायः ऐसा नहीं कर सकते।

सब प्रकार के सामायिक कर्ताओं के लिए सामायिक लेने का सामान्य विधि यह है कि प्रथम ईर्यावही पडिकम के सामायिक दंडक उच्चरे। दर असल यही विधि युक्तियुक्त और शास्त्रसंमत मालूम होता है, क्योंकि कि महानिशीथ सूत्र में इसी मुजिव चैत्यवंदन स्वाध्यायादि धर्म कार्यों का विधि प्रतिपादन किया है।

युक्तिगम्य भी यही हो सकता है, जैसे द्रव्यस्तव-जिनपूजा में शरीरशुद्धि के निमित्त द्रव्यस्नान-जलस्नान की प्रथम जरूरत है वैसे ही भावस्तव-सामायिक में भी परिणामशुद्धि के लिये भावस्नान-ईर्यावहीप्रतिक्रमण की प्रथम जरूरत सिद्ध होती है । और जैसे प्रथम स्नान कर लेने के बाद पूजा करते समय फिर विनाकारण स्नान की आवश्यकता नहीं है, इसी प्रकारसे प्रथम ईर्यावही कर लेने के बाद सामायिक में फिर विना कारण ईर्यावही करने की जरूरत नहीं रहती ।

इस विस्तृतविवरण से यह सिद्ध हुआ कि ईर्यावहीप्रतिक्रमण पूर्वक सामायिक लेकर फिर ईर्यावही पडिकमना निरर्थक है, और ईर्यावही प्रतिक्रमण विना ही सामायिक लेकर पीछे ईर्यावही करना भी पूजा के बाद स्नान और भोजन के बाद दातन करने के बराबर विपरीत है ।

राजेन्द्रसूरिजी के अनुयायी लोग सामायिक दंडक उच्चर के पीछे ईर्यावही पडिकमते हैं, तब धनविजयजी का भ्रान्त भक्तवर्ग उच्चारण के पहले और पीछे एवं दो ईर्यावही करते हैं । इस प्रकार ये दोनों प्रकार का अयौक्तिक विधान लेखकों के मत में प्रचलित है ।

“ साहुसमीवे पत्तो पुणो सामाइयं करेइ ईरियावहिआए पडिकमति ”

इत्यादि पाठों को देख के लेखक जी विगैरह कितनेक लोग तो यही मान बैठे हैं कि सामायिक उच्चरने के बाद भी या बाद ही ईर्यावही करनी चाहिये, परंतु वे यह नहीं सोचते कि इस ईर्यावही का संबंध किस के साथ है ! पाठ में साफ २ कह दिया है कि जो गृहस्थ अपने घर से सायायिक करके साधुसमीप

आवे वह प्रथम तो स्वयं लिए हुए सामायिक को साधुसाक्षिक कर देवे और पीछे गमनागमन की ईर्यावही पडिकमे । इस से साफ जाहिर है कि इस ईर्यावही का संबन्ध सामायिक के साथ नहीं किंतु सामायिक लेकर किये हुए गमन के साथ है ।

अब विचारना चाहिये कि जो साधुसमीप जाकर ही सामायिक लेता है यातो जहां लेता है वहीं पूरा करता है—दूसरे स्थान पर जाता ही नहीं उस को सामायिक लेने के बाद ईर्यावही करने की जरूरत ही क्या है ? । पाठक ! इस रहस्यार्थ से ऊपर कहे हुए दोनों मत कैसे उड जाते हैं आप देख लें ।

लेखकजी ! अब सच कहिये सामायिक व्रत में भी रगड़ा संवेगियोंने डाला है या आप के मतवालोंने ? ।

फिर लेखक अपनी जानकारी का परिचय देतें हैं कि—

“ चार थुई के गच्छवालों से प्रतिष्ठित प्रतिमा कों ही वांदना ! पूजना ! दूसरे तीन थुई आदिगच्छवालों की प्रतिष्ठित प्रतिमा को वांदना पूजना नहीं ! फिर प्राचीन प्रतिमा को ही वांदना पूजना पर नवीन प्रतिमा को वांदना पूजना नहीं ! इत्वादि अनेक एकान्तिक मतों के मंडन करने वाले निन्दाके पात्र होके तुम निन्द्य से अन्यथा कैसे हो सकते हो ? । ”

यह भी लेखकों की झूठी कल्पना है कि जैनभिक्षु आदि ऐसे मतों का मंडन करते हैं, हां यह बात तो वे जरूर ही कहते हैं कि यदि पुराना मंदिर और प्रतिमाएं मौजूद हों तो वहां पर नये मंदिर और प्रतिमाएं ज्यादा बढ़ाने की क्या जरूरत है ? । बिन जरूरी मंदिर प्रतिमाओं का बढ़ाना ही मानों उन की आशातना करना है । जैनभिक्षु का तो यह मत नहीं है कि पुरानी

प्रतिमाओं का ही वंदन, पूजन करना, नयी प्रतिमाओं का नहीं, परंतु यह मत भी उन का नहीं कि पुरानी प्रतिमाओं को उठा कर जमीन पर रख देना और अपने नाम के शिला लेख वाली नयी प्रतिमाओं को उन के स्थान पर बिठा देना, जैसे राजेन्द्र-सूरिजी विगैरह करते थे ।

‘ दूसरे गच्छवालों की प्रतिष्ठित प्रतिमाओं को वंदन नहीं करना ’ ऐसा जैनभिक्षु आदि तो नहीं कहते परंतु राजेन्द्रसूरिजी ने तो ऐसा वर्ताव कई जगह किया है सो प्रसिद्ध है । ताजा दृष्टान्त लीजिये—संवत् १९५५ की साल में खरतरगच्छ के श्रीपूज्यजीने आहोर में श्रीऋषभदेवजी के मंदिर की प्रतिष्ठा की तब राजेन्द्रसूरिजी उस मंदिर में दर्शन के लिए भी नहीं जाते थे, लोगों के कहने पर कि ‘ आप इस मंदिर में दर्शन करने को क्यों नहीं पधारते हैं ’ उन्होंने उत्तर दिया ‘ इस मंदिर की प्रतिष्ठा को हम मंजूर नहीं करते इस लिए अभी तक यह प्रतिमा वंदनीय नहीं हुई ’ ऐसा कह के दूसरे भी लोगों को दर्शन के लिये वहां जाने से रोका ! ।

लेखकजी ! तलाश कीजिये कि यह हकीकत सत्य है या नहीं, अगर सत्य है तो आप के ही मतवाले शास्त्र विरुद्ध मत का मंडन करने वाले ठहरे या नहीं ? ।

जैनशासन पत्र ने जब त्रैस्तुतिकों की पोल जाहिर की, वह उन की अंधश्रद्धा को प्रकाश में लाकर हितोपदेश करने को उद्यत हुआ, तब वे बहुत ही चिढ़ाये और गभराये, परंतु सत्य बात के आगे उन का उपाय ही क्या था ?, जब वे समझ गये कि सत्य प्रकाशक ‘ जैनशासन ’ पत्र किसी प्रकार हम से दूब

नहीं सकता तो वे उसे नीचे मुजब ठंडा उपदेश करने लगे कि—

“ जैनशासन पत्र को ऐसे लेख कदापि प्रकाश नहीं करना चाहिये कि—जिस में पक्षपात दोष या जैनधर्म की हानि हो ? । ”

लेखकजी ! आप का उपदेश तो योग्य है परंतु आप जानते हैं कि पत्र प्रकाशक लोग बहुत पहुंचे हुए होते हैं, वे प्रथम यह अच्छी तरह जांच लेते हैं कि कौनसा लेख कितना लाभकारक है, फिर उस लेखको प्रकाशित करते हैं जो अच्छा फायदा करनेवाला हो ।

हां, सभी लेख ऐसे नहीं होते कि उन्हें पढ कर सभी लोग राजी हो जायँ, और ऐसा होना है भी मुश्किल, ऐसी दवा शायद ही कोई होगी जो सब रोगियों के लिये हितकर हो । यदि सभी रोगों का विजय करने के लिये एक ही औषध—वह भी मीठा—समर्थ हो बैठता हो बाकी के सब अमधुर औषधों का पृथिवी पर उत्पन्न होना ही व्यर्थ हो जाता, परंतु ऐसा होता नहीं है, सब रोगों का औषध एक नहीं है, ऐसे ही सब दोषों को दूर करने के वास्ते एक मीठे रस का लेख ही समर्थ नहीं होता । और लोकस्थिति तो यहां तक कहती है कि ‘ कटुरस ’ जितना गुणकारक है उतना मीठा नहीं । यह बात सही है कि मीठी दवा से रोग मिट जाय तो कटु की जरूरत नहीं, परंतु अखबार वालों को यह कहने की ही क्या जरूरत थी ?, वे कई वर्षों से मिष्ट औषधों से उपचार कर ही रहे थे, पर सब निष्फल ! कुछ भी गुणप्राप्ति नहीं हुई तब उन्होंने कटु औषधी की तर्फ दृष्टि नांखी—कुछ कटु लेखों से आप के मुंह बिगाडे । इस से यह कहना उचित नहीं कि ‘ जैनशासन ’

पत्र पक्षपाती है, हां यह बात जरूर है कि वह सत्यग्राही अवश्य है, और यही कारण है कि सत्यतापूर्ण लेखों को वह बड़े आदर के साथ स्थान देता है—छाप देता है, आप का असत्यपूर्ण लेख 'जैनशासन' ने नहीं छापा तो इस का दोष जैनशासन के शिर चढाना मूर्खता है, यह दोष आप की ही असत्यता का है और इसी के शिर मंढा जाय तो कुछ भी अनुचित नहीं होगा ।

—उपसंहार—

प्रियपाठकगण ! अब मैं हर्ष-तीर्थ के लिखे हुए नाम से तो 'समुचितउत्तरदानपत्र' पर गुण से 'अनुचितउत्तरदान पत्र' की मीमांसा को पूर्ण करता हूं । यद्यपि अनेक बातें इस में लिखने योग्य उपस्थित हैं तथापि इस जगह अब ज्यादा लिखना मुनासिब नहीं समझता हूं ।

वास्तव में अधिक लिखना है भी व्यर्थ, यह तो मुझे आशा ही नहीं कि इस पुस्तक में लिखी हुई सत्य बातें भी त्रैस्तुतिक लोग अंगीकार कर लेंगे, क्यों कि वे लोग—असदाग्रह से पूर्ण भरे हुए हैं, उन में यह विवेक ही नहीं है कि सत्य बात कौनसी है, अगर किन्हीं में है भी तो वे जानते हुए भूलते हैं, उन की यह तो मान्यता ही नहीं कि 'सच्चा सो मेरा' । वे तो सचमुच यही मान बैठे हैं कि 'मेरा सो ही सच्चा' । यह मेरा कथन आप अतिशयोक्तिपूर्ण न समझें, वे लोग मेरे कथन से भी अधिक अंधश्रद्धा वाले हैं, इस विषय में आपको चाहिये जितने प्रमाण मिल सकते हैं, मेरी तर्फ से भी दो एक सुन लीजिये—

“ सूरिराजेन्द्र जी मुद्रा छोडी
अष्टकर्मममता को तोडी ।
सच्चिदानंद से प्रेम तो जोडी
शिवरमणी गये जल्दसे दोडी ॥ ”

(गुरुनिर्वाण लावनी-पृष्ठ ९)

“ पंचम काल में सूरिविजय-
राजेन्द्रतुल्य नहि कोइ होगा ।
गोत्र तीर्थकर लिया है
शिवरमणी का सुख भोगा ॥ ”

(गुरुनिर्वाण लावनी-पृष्ठ १३)

पाठकगण ! देख लीजिये, अंधश्रद्धा में है कुछ खामी ?
राजेन्द्रसूरिजी को तीर्थकर गोत्र बंधा कर यहीं से सीधे शिवर-
मणी के सुख भुगवाने वाले-मुक्ति में भेजने वाले त्रैस्तुतिकों
की अंधश्रद्धा की हद्द आ गई या नहीं ? ।

ऐसे अंधविश्वासी बुद्धिहीन कदाग्रहग्रस्त मनुष्यों को यह
मेरा निबन्ध फायदा पहुंचावेगा ऐसी मान्यता मैं स्वप्न में भी
नहीं रखता ।

मेरी जो कुछ आशा है वह तत्त्वजिज्ञासु और मध्यस्थ दृष्टि-
वाले सज्जनों के प्रति है, क्यो कि इस मीमांसा की सत्यता के
साक्षी वही होंगे जो सत्यप्रिय और विचार शील हैं, और उन्हीं
की सत्यग्राहिता से यह मीमांसा फलवती होगी ॥

हम को किस बात की जरूरत है ?

१. शास्त्रकारों का फरमान है कि देश काल को मान देने वाले मनुष्य अपनी, अपने धर्म की और अपनी जाति की उन्नति आसानी से कर सकते हैं ।
२. इस से उलटा बर्ताव करने वाले तन, मन और धन का भोग देते हुए भी अपना इष्ट कार्य साध नहीं सकते, और केवल हानि उठाते हैं ।
३. ऐसा भी कोई समय था, जिस में प्रतिष्ठा, अट्टाहिउत्सव, विवाह और औसर आदि की धूमधामों में लाखों रुपया खर्च कर लोग अपनी धार्मिक और जातीय उन्नति करते थे ।
४. हाल का समय ऐसा है कि लायब्रेरी, पाठशाला, बोर्डिंग, कॉलेज आदि विद्योन्नति के साधनों से ही धर्म और जाति की विशेष उन्नति हो सकती है ।
५. इस के लिए हम जनभाइयों से-विशेषतया मारवाड़ी जैनों से-प्रार्थना करते हैं कि वे अपनी क्षीण होती हुई जाति और धर्म की तर्फ एक बार दृष्टि करें और सौचें कि इस वक्त हम को किस बात की खास जरूरत है ? ।